चैतन्य-चमत्कार गीताञ्जली

(गद्य-पद्यमय)

आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

नन्दौड़ में एक परिवार द्वारा द्वितीय वार 2018 को आयोजित निराडम्बर चातुर्मास के उपलक्ष्य में

स्वैच्छिक अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

1. सौ. वैशाली श्री नितीन जी नखाते, नागपुर (गुरु भक्त परिवार) 2. क्षु. श्रेयांस श्री माताजी के अष्टाह्निका के 8 उपवास के उपलक्ष्य में (गुप्तदान) 3. श्री दिग. जैन समाज नागपुर द्वारा (आ. श्री गुप्तिनन्दी जी श्री संघ में भाव संग्रह ग्रंथ स्वाध्याय हेतु भेजा गया था उसके उपलक्ष्य में)

ग्रंथांक-301 संस्करण-प्रथम 2018

प्रतियाँ - 500 मूल्य - 100 रू/-

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 097832-16418

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

अनुभव-

सच्ची-अच्छी भावना अवश्य फल देती

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल :1. क्या मिलिए......, 2.आत्मशक्ति)

मेरे कुछ अनुभवों को कर रहा हूँ मैं यहाँ वर्णन।
जिससे अन्य गुणग्राही जन भी करेंगे गुण ग्रहण।। (1)
सच्ची-अच्छी भावनाओं का फल भी मिलते हैं अवश्य।
आगामी भव में तो अधिक मिलेंगे इस भव में भी यथायोग्य।। (2)
कर्मसिद्धान्त व मनोविज्ञान भी इसे मानते है सत्य-तथ्य।
मेरे भी हो रहे अनुभव अनेक बाल्यकाल से से अभी तक।। (3)
बाल्यकाल से रही मेरी, तीव्रभावना जानने हेतु सत्य-असत्य।
धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, विश्व-रहस्य ले आत्म-परमात्म।। (4)
स्वपर विश्व की मंगलकामना रही है मेरी विद्यार्थी अवस्था से।
इस हेतु मेरी भावना रही है बनूँ मैं नेता-वैज्ञानिक या सन्त।। (5)
इस हेतु मैंने बाल विद्यार्थी अवस्था में लिया हूँ दो दृढ़-प्रतिज्ञा।
आजीवन मैं विद्यार्थी रहूँगा बालक सम सरल-सहज।। (6)
इसके फल स्वरूप मैं विद्यार्थी अवस्था से पढा रहा हूँ निःशुल्क।
विद्यार्थी-साधु-साध्वी वैज्ञानिक-प्रोफेसर्स जैन-अजैन आदिक।। (7)
इससे प्रेरित होकर मैं अध्ययन कर रहा हूँ देशी-विदेशी साहित्य।
धर्म-दर्शन-विज्ञान-गणित-मनोविज्ञान-तर्क से ले आयुर्वेद।। (8)
इस हेतु अनेक देशी-विदेशी भाषाओं का भी कर रहा हूँ अध्ययन।
आधुनिक वैज्ञानिक शोध परिज्ञान हेतु देख रहा हूँ टी.वी. वैज्ञानिक चैनल। (9)
इसके फल स्वरूप हो रहे साहित्य सृजन तथाहि प्रकाशन।
इसका अध्ययन तथा शोध कार्य कर रहे हैं विभिन्न विद्यार्थी गण।। (10)
देश-विदेशों में मेरे वैज्ञानिक शिष्य कर रहे हैं धर्म प्रचार।
स्वेच्छा से भक्त जन कर रहे हैं दान-सहयोगादि हर प्रकार।। (11)

जैन एकता व विश्वशान्ति हेतु कर रहे हैं देश-विदेशों में काम।
विश्वधर्म संसद से ले अनेक देशों में कर रहे हैं स्वेच्छा से काम।। (12)

दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन कर रहे हैं चातुर्मास से ले उक्त भी काम।
हिन्दूराजा भी चातुर्मास हेतु कर रहे हैं निवेदन व सहयोग।। (13)

''गायत्री परिवार'' व ''संघ परिवार'' व ''नारायण सेवा संस्थान'' सहयोगी।
''अखिल भारतीय जैन एकता सस्थान'' भी कर रहा है चातुर्मास आदि।। (14)

छोटे-छोटे ग्राम नन्दौड-चितरी आदि में एक एक परिवार द्वारा।
हो रहे हैं चातुर्मास और भी अनेक परिवार द्वारा चातुर्मास हेतु निवेदन।। (15)

गुरुभक्त-ऊर्जावान् नितिन द्वारा सीपुर में आजीवन चातुर्मास हेतु सत्याग्रह।।
ऐसी ही भावना भूपेश द्वारा भी तथाहि उनके सहयोगी मण्डल द्वारा।। (16)

''(राजचन्द्र) आश्रम कोबा'' व ऋषभ जैन का भी निवेदन चातुर्मास हेतु।
सागवाड़ा धर्मतीर्थ आदि में प्रायः दो सौ चातुर्मास हेतु निवेदन भक्त शिष्य द्वारा।। (17)

ब्रह्मचारी खुशपाल आशादेवी-संध्या, मणिभद्र, दीपेश, मयंक, मधोक।
खेतानी परिवार व अनेक गुप्तदानी कर रहे हैं सेवा-दानादि अनेक।। (18)

एकान्त-मौन-निस्पृह-निराडम्बर-आत्म साधना प्रभावना की भावना।
हो रही है स्वयमेव सफल अनुभव-प्रयोग से ये सभी जाना।। (19)

सच्ची-अच्छी भावना-साधना से जब होती है आत्मा की उपलब्धि/(मुक्ति)।
उक्त सभी कार्य होना प्राथमिक फल है, 'कनक' का लक्ष्य आत्मोपलब्धि।। (20)

आधुनिक हिंदी कविता की दुर्दशा से चिन्तित होकर मैंने।
गुप्तिनंदी-क्षमाश्री (1992) को सही कविता सृजन हेतु क्रिया था प्रेरित।।
मेरी यह तीव्र भावना सीपुर (2011) से हो रही सफलीभूत।
अभी तक अट्ठासी (88) गीताञ्जलियाँ हो गई हैं प्रकाशित।।

सागवाडा दि. 28/05-2018 अपराह्न 06:28

महाज्ञानी आध्यात्मिक साधक आचार्य
श्री कनकनन्दी गुरुवर स्तवन

कवयित्री-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल: जिन्दगी इक सफर है सुहाना....)

कनक गुरु मुझे दो कुछ नॉलेज...आप हो धर्म-विज्ञान के कॉलेज....
गुरुवर...गुरुवर...गुरुवर...गुरुवर ज्ञानी गुरुवर...2 (ध्रुव)

आपने छोड़े है अपने पैरण्ट्स...इसीलिए बने हो विश्व के सैण्ट...
मोबाइल है आपका कॉलेज...कनक गुरु...(1)

दिल तो है आपका एकदम प्युर...मोक्ष की टिकिट आपकी श्युअर...
आपको भाते हैं छोटे विलेज...कनक गुरु...(2)

समता में रहते हो आप परमानेण्ट...देते हो सबको खुला चैलेञ्ज...
सबसे आगे है आपका नॉलेज...कनक गुरु...(3)

ज्ञान-विज्ञान/(जैनागम) पे लिखे खूब लिट्रेचर...परमागम (मैं) पर देते हो लेक्चर...
जैनागम के मूवी रिसर्च कॉलेज...कनक गुरु...(4)

आपकी छाया/(निश्रा) में मिले रीयल हैवन...आप रहते हो हमेशा गार्डन...
सुवत्सलता से मिले सम्यक् नॉलेज...कनक गुरु...(5)

सभी जीवों की करते केयर...सभी सुखी हो यह करते प्रेयर...
मैत्री भावना का देते नॉलेज...कनक गुरु...(6)

भाव लेश्या है आपकी व्हाइट...इन्द्रियों को रखते हो टाइट...
विभावों से दूर रहने का दो नॉलेज...कनक गुरु...(7)

दुनिया की आप परवाह न करे...गुरुवर सोचे दुनिया से परे...
जब गुरुवर न रहेंगे बीच हमारे...रोते रह जाएंगे लोग सारे...कनक...(8)...

गुरुदेव कहते मिट जाए मेरा नाम...पा जाऊँ अभी ही मोक्ष धाम...
इसी हेतु करते स्व का ध्यान...कनक गुरु...(9)

हँसते मुस्कराते रहते हरदम...शोध-बोध करते रहते हरदम...
आत्म प्राप्ति का करते यतन...कनक गुरु...(10)
अनात्म कामों से दूर रहते...ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि से रहते परे...
इनके पास तो है वैश्विक/(राईट) नॉलेज...कनक गुरु...(11)
शिष्य भक्त कहते हैं. पॉवर हॉउस...कनक गुरु हैं सुपर पॉवर...
परमागम से निकालते हैं जूस...कनक गुरु...(12)
देश-विदेशों में इनके शिष्य ज्ञानी...ज्ञान/(विज्ञान) की महिमा सबने मानी...
अनुभव का तो है फुल नॉलेज...कनक गुरु...(13)
हर कार्यों में गुरुदेव परफैक्ट...जिज्ञासु को पहले करते अटैक...
परीक्षा लेने पर देते नॉलेज...कनक गुरु...(14)
कनक गुरु तो हैं ग्रेट पर्सन...आकाश में जैसे चमकता सन...
अलौकिक गणित का खास नॉलेज...कनक गुरु...(15)
इनके अनुभव का कोई न सानी...उत्तर देने में याद आए नानी...
इसीलिए मुझे दो थोड़ा नॉलेज...कनक गुरु...(16)
कनक गुरु हमेशा रहते हैं कूल...हमारे अज्ञान की उड़ाए धूल...
शिष्यों को देते हो राइट नॉलेज...कनक गुरु...(17)
गाते मुस्कुराते रहते हैं हम...कविता/(गीत) गाने में न थकते हम...
कविताएँ लिखने का दो नॉलेज...कनक गुरु...(18)
हर क्षण करते हैं आत्म संशोधन...आत्मानुभव-आत्मानुशासन...
आत्म-उपलब्धि का देते नॉलेज...कनक गुरु...(19)
हर क्षण रहते हैं अटेंशन...अतएव नहीं लेते टेंशन...
स्वस्थ्य रहने का रखते नॉलेज...कनक गुरु...(20)
गुरुवर करते हैं प्रातः भ्रमण... भ्रमण में भी विषय/(ज्ञान) का कथन...
आप जैसा बनने का दो नॉलेज...कनक गुरु...(21)
गुरुवर बच्चों को करते लाइक...सदा चलाते ग्यारह(11) नम्बर बाइक...

बच्चे बने रहने का दो नॉलेज...कनक गुरु...(22)

दुनिया में गुरुवर वण्डरफुल...इनकी छवि है ब्यूटीफुल...

मृदु बनने का दो नित नॉलेज...कनक गुरु...(23)

विविध गुणों के आप गुलिस्ताँ...हमारे लिए तो हो फरिश्ता...

सिद्ध बनने का देते नॉलेज...कनक गुरु...(24)

समस्त आडम्बर प्रदर्शन आदि विभावों से रहित आत्मलीन निस्पृह सन्त आचार्य कनकनन्दी गुरुवर

कवयित्री-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल: ना कजरे की धार ....)

ना आडम्बर का भाव...ना प्रदर्शन का काम...

कनकनन्दी गुरुराज...आत्म-ज्ञान-ध्यान लीन...तुम वैश्विक सन्त हो (गुरुवर)...(स्थायी)

हे! परमागम/(आत्मा) के प्रेमी...सतत 'सोऽहं' ध्यानी...

विभावों से ना नाता...स्वभाव रत स्वामी...

निस्पृही-निर्विकारी...हो समता के भण्डार...ना आडम्बर...(1)

आत्म तत्त्व में लीन...ध्यान-अध्ययन प्रवीण...

स्वाध्याय तपस्वी यतिवर...सिद्धान्त पारंगत...

जिनवाणी पय पीकर...देते भव्यों को ज्ञान...ना आडम्बर...(2)

आत्म द्रव्य की चर्चा...स्वात्मा की सतत चर्या...

आत्मा ही परम सत्य...शिष्य-भक्त पाते तथ्य...

आत्म स्नेही आत्मज्ञानी...आत्मा का ही गुणगान...ना आडम्बर...(3)

सत्य का कथन करते...सत्य में अडिग रहते...

कोई माने या न माने...सत्य प्रतिपादन करते...

सत्य जानो सत्य मानो...आत्म वत्सलता के भाव...ना आडम्बर...(4)

ना मन्त्र-तन्त्र करते...ना झाड़ा फूँकी करते...

ना निन्दा चुगली करते...ना विसंवाद करते...

दूषण से दूर रहते...गुणों के हो भण्डार...ना आडम्बर...(5)
गुरुवर से प्रभावित होकर...गुणग्राही धार्मिक जन...
दिक्-श्वेताम्बर हो या जैन...अजैन देशी-विदेशी...
स्वेच्छा से कार्य करते...स्वेच्छा से देते दान...ना आडम्बर...(6)
ना भौतिक निर्माण करते...ना बोलियाँ कराते...
ग्रन्थ प्रकाशन हेतु भी...याचना न करते...
अनात्म कामों से...नवकोटि से रहते दूर/(मंच-मण्डल-संगठन से नवकोटि से रहते दूर) (7)

सागवाड़ा दि. 23/05/2018 अपराह्न 5:30

मेरा शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन

-बा.ब्र.रोहित जैन

(चाल: ना कजरे की धार ....)

ना राग-द्वेष का भाव...ना अपना-पराया भाव...
मेरे प्रिय आत्मन्...तुम तो अनन्त ज्ञानी हो...तुम शुद्ध स्वरूप हो...(स्थायी)
अनन्त शक्ति युक्त...अनन्त गुण युक्त...
आत्म तत्त्व का चिंतन...आत्म द्रव्य का मनन...
सिद्ध स्वरूप...परमात्म स्वरूप...बनना मम ध्येय...ना राग...(1)
हे! सच्चिदानन्द रूप...हे! सत्य-साम्य रूप...
हे! शिव-सुन्दर रूप...है! निस्पृही स्वरूप...
आत्मिक गुणों...का चिंतन करो...कर्मों का करो क्षय...ना राग...(2)
'सोऽहं','अहं' मैं ध्याऊँ...निज आत्मा को पाऊँ...
अनन्त संसार को...नष्ट अब मैं करूँ...
ध्यान-अध्ययन...सतत करूँ...अनगार धर्म पालूँ...ना राग...(3)
क्रोध-मान को त्यागूँ...समता-शन्ति पाऊँ...
ख्याति-लाभ को त्यागूँ...आत्म रमण करूँ...
निरंजन...रूप मेरा...अविरल मैं ध्याऊँ...ना राग...(4)

वीतराग निर्विकल्प...समाधि में मैं रत...
मौन साधना से...बनूँ मैं परम शुद्ध...
एकान्त में...स्थित होकर...आत्मध्यान (मैं) करूँ...ना राग...(5)
स्व-पर भेद ज्ञान...आत्मा में हो श्रद्धान...
मोह-माया को त्यजकर...निश्चिंत हो साधक...
उदारवादी...समता रूपी...सतत मैं रहूँ...ना राग...(6)
संकल्प-विकल्प मुक्त...आकर्षण-विकर्षण रिक्त...
अपेक्षा-उपेक्षा रहित...मान-अपमान से दूर...
सिद्ध स्वरूप...मैं बनूँगा...है दृढ़ श्रद्धान मुझे...ना राग...(7)

सागवाड़ा 24/05/2018 अपराह्न 05:25

आचार्य कनकनन्दी की प्रतिज्ञा आधि व्याधि से परे होने की

-बा.ब्र.उमंग जैन

(चाल: चाँद सी महबूबा....)

हे! कनकनन्दी गुरुवर मेरा अज्ञान जल्द से हर लो ना
आचार्य कुन्थुसागर से ले दीक्षा कर रहे हो प्रभावना
आधि व्याधि उपाधि से परे हो...आपका लक्ष्य है मात्र मोक्ष...
ऐसे आचार्य कनकनन्दी गुरुवर के चरणों में वन्दन हो...

आप ख्याति पूजा-लाभ लन्द फन्द चन्दा चिट्‌ठा से दूर हो
जैन अजैन वैज्ञानिक प्रोफेसर आदि हैं शिष्य आपके...
ऐसे ज्ञानी ध्यानी गुरुवर मुझे प्राप्त हुए हैं... ऐसे आचार्य...

आकर्षण विर्कषण द्वन्द्व संकल्प, विकल्प संक्लेश से परे हो
केवल आत्म विशुद्धि से आत्मोपलब्धि, करने का है आपका लक्ष्य...
आचार्य पदवी स्वीकार करी तो भी उससे निस्पृह रहे ऐसे आचार्य...

कुन्थु, विमल, भरत, देशभूषण आचार्यों ने अनेक पदवी दी
तथापि आप तो ये पदविया प्रयोग करते कभी नहीं...

केवल गुरुओं के गुणस्मरण के लिये लिखते व बोलने हो
ऐसे आचार्य...

आचार्य पद्मनन्दी के अनुरोध से, सूरी अभिनन्दन के कर कमलों से
आचार्य संस्कार उदयपुर में हुआ, जन-गण में आनंद छाया
फिर भी आप आचार्य पदवी का घमण्ड कभी नहीं करते हो
ऐसे आचार्य...

आध्यात्मिक पक्ष का प्रचार प्रसार अध्ययन लेखन आदि करते हो
विज्ञान पढते और पढ़ाते भी हो ज्ञान दान भी बहुत करते हो
ऐसे ज्ञानी गुरुवर आपको उमंग भरा वन्दन हो ऐसे आचार्य...

उदयपुर, समय प्रातः 5:00 दि. 1/5/2018

पल-पल कनक गुरुवर का साथ रहे

(चालः पल-पल दिल के पास....)

-बा.ब्र.उमंग जैन
(संघस्थ आचार्य कनकनन्दी)

पल-पल गुरु के पास मुझे रहना है
जीवन की हर बात इनसे सीखना है

हर पल तेरी ही याद आती रहती है
कविता हर एक तेरी ऊर्जा सी आती है
मुझे आत्मा का परिचय तुमने ही कराया है
तुमने सही मोक्ष का मार्ग बतलाया है।। पल-पल...

मुझको बताया है विनय का सही अर्थ
मैं अनन्त शक्तिशाली हूँ यह भी बताया है
मुझे स्वाध्याय से स्व का अध्ययन करना है
मुझे आत्मा से परमात्मा बनना है
मुझे जीवन का यही लक्ष्य धरना है।। पल-पल...

यह शरीर भी मेरा अपना नहीं है

अनादि काल से मैं इसे अपना है माना
इस सांसारिक भोगों में डूबता ही गया
मैं अनादि काल से भटक ही रहा हूँ
अब 'कनक' के चरणों में 'उमंग' आया है
इसे पार लगा देना इस संसार से।। पल-पल...

सागवाड़ा, दिनांक 24/5/2018
समय रात्रि 9:30

कनक गुरुवर को वन्दन

-सुश्री-पूर्वी पण्ड्या

(चाल-सावन का महीना...)

गुरुवर तुमको हमारा है नमन
गुरुवर तुमको हमारा है नमन
इन कदमों में इन चरणों में शत-शत है वन्दन
गुरुवर हमारे ध्यान योगी ऋषिवर ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण मुनिवर
इनकी कृपा दृष्टि से पावें आत्म सम्मान इन कदमों में इन चरणों में शत-शत है वन्दन

ओ....ओ....
गुरुवर तुमको......

आत्मवत् व्यवहार, वैश्विक मौलिकता धर्मशील संस्कार भाव उदारता
इन चरणों में अर्पित है मेरे शब्द सुमन इन कदमों में इन चरणों में शत-शत है वन्दन

ओ....ओ....गुरुवर तुमको......

चितरी 15-05-18 रात्रि-09:12

''गुरु गुणगान''

-सौ.तृप्ति

तर्जः 1.उड़ चला पंछी रे....2. छिप गया कोई रे...

दर्श करके गुरुवर के मन भर आया।
शब्द लिखे लेखनी ने गुरु गुण गाया।। ध्रु.।।
मेरे कनकनन्दी गुरुवर जग से निराले,
इनको समझ ना पाये मूढ़ मति वाले,
राग-द्वेष आडम्बर की दूर रहे छाया।।1।।
शिक्षा कार्यशैली अनुभव बताना,
अनुशासित होकर ज्ञान को पाना,
आपकी वाणी से ये सुज्ञान पाया।।2।।
परिग्रह छोड़ा फिर भी गुणगण धारे,
क्रोध न करते फिर भी कर्म निवारे,
निर्मोही ये मोहक मुख है जन मन को भाया।।3।।
गुणगान जब भी होता शब्द कम लगते,
कनक गुरु सा बनने भव कम लगते,
अनुक्रम से मोक्ष पाने गुरुरूप ध्याया।।8।।

सागवाड़ा-28/05/2018
दोपहर-3:30

अलौकिक-कनकनन्दी गुरुवर

सहायक-आ.सुवत्सलमती माताजी
कुमारी पल्लवी

(चालःफूलों का तारों का....)

शिष्य व भक्तों का सबका कहना हैं
अलौकिक, अद्वितीय कनक गुरुवर हैं
सारी उम्र इनकी भक्ति करना है।।

गुरु भक्ति क्या है ये दुनिया न जाने। ला-ला-ला
गुरु भक्ति करता वो भव पार हो जावे
आवो गुरु के पास जो पुण्य कमाना है।। अलौकिक...

भोली-भाली समता की मूरत हैं ये। ला-ला-ला
मन-मोहने का जादू है इनमें
सभी भक्त-शिष्य दौड़े आते हैं।। अलौकिक...

आवो गुरुवर के पास स्वाध्याय करे। ला-ला-ला
सभी भूल जाओ पर मैं (आत्मा) को ना भूलो
गुरु चरणों में रह के, मैं को पाना है। अलौकिक...

विषयानुक्रमणिका

अ.सं.	विषय	पृ. सं.
1.	सच्ची-अच्छी भावना अवश्य फल देती	02
2.	महाज्ञानी आध्यात्मिक साधक आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुवर स्तवन	04
3.	समस्त आडम्बर प्रदर्शन आदि विभावों से रहित आत्मलीन निस्पृह सन्त	06
4.	मेरा शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन	07
5.	आचार्य कनकनन्दी की प्रतिज्ञा आधि व्याधि से परे होने की	08
6.	पल-पल कनक गुरुवर का साथ रहे	09
7.	कनक गुरुवर को वन्दन	10
8.	गुरु गुणगान	11
9.	आलौकिक-कनकनन्दी गुरुवर	11

चैतन्य-चमत्कार गीताञ्जली

1.	सिद्ध परमात्मा की स्तुति	14
2.	निज-आत्म सम्बोधन	15
3.	गणधर देव की स्तुति	15
4.	आत्मसाधक गुरु की वन्दना	20
5.	आत्मदर्शन हेतु होता धर्म, प्रदर्शन से/(में) होता अधर्म	26
6.	दिखावा रहित स्व-दर्शन करुँ	36
7.	आत्मानुशासन हेतु परतन्त्रता त्यागूँ	52
8.	मैं निर्बन्ध बनूँ (स्वतंत्र होने हेतु मेरा पुरुषार्थ)	77
9.	सांसारिक कामों के त्यागी श्रमण	86
10.	आत्मविशुद्धि बिन बाह्य तप त्याग संयम से मोक्ष नहीं	99
11.	स्व-आत्मश्रद्धान ज्ञानाचरण करूँ-अन्यथा संयम-तप-श्रुत युक्त भी व्यर्थ	100
12.	आत्मलीनता से विभिन्न लाभ	122
13.	ज्ञान दान का फल है: पांचों प्रकार ज्ञान की उपलब्धि	136
14.	विनय अन्तरंग तप व मोक्ष द्वार	144
15.	मैं शाश्वत हूँ कभी न जन्मता	168
16.	मैं हूँ चैतन्य	182

चैतन्य-चमत्कार गीताञ्जली सिद्ध परमात्मा की स्तुति

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-करता हूँ वन्दना....)

करता हूँ वन्दना सिद्ध प्रभु...तेरे सम और कोई नहीं विभु ऽऽऽ (ध्रुव)

(आपने) किया राग-द्वेष-मोह-क्षय...तन-मन-इन्द्रिय क्षय...

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा का क्षय...आधि-व्याधि-उपाधि क्षय...

जन्म-जरा-मरण का क्षय...पाये आध्यात्मिक गुण अक्षय...(1) करता हूँ

शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध आप अक्षर-परमात्मा भी आप...

अनन्त-अव्यय-अच्युत...परब्रह्म-सिद्धार्थ-अक्षय...

परमेष्ठी-परंज्योति-शिव-शाश्वत-सनातन-दिव्य...(2) करता हूँ...

ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-वरिष्ठ-गरिष्ठ...कृतार्थ-अमृत व नित्य...

अनुत्तर-गुणज्येष्ठ-पवित्र...निरंजन-निष्कलंक-सत्य...

परम-प्रधान-परमोदय-प्राज्ञ...अप्रमेय-प्रमाण-सुशान्त...(3) करता हूँ...

अचिंत्य-आनन्द-अमित...वीतराग-अगोचर-अमूर्त...

पुरु-अधिदेव-कृतकृत्य...टंकोत्कीर्णज्ञायक स्वरूप...

जगत्ज्येष्ठ-लोकाग्र निवास...निःश्रेयस निर्विकार मोक्ष...(4) करता हूँ...

शुद्ध-तत्त्व-महावीर्य...अतुल-विशाल-गुणग्राम...

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी-सर्वव्यापी (गहन)...अजर-अमर-अकर्म-पूज्य...

आत्मस्थित-सर्वगत-ज्ञान-ज्ञेय...'सूरी कनक' के परम ध्येय...(5) करता हूँ...

सागवाड़ा 26/05/2018 रात्रि 09:20

निज-आत्म सम्बोधन

-बा.ब्र. रोहित जैन

(चालः तुम ही हो....)

मैं हूँ आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख युक्त।

मैं हूँ एकला सबसे निराला, अद्वितीय मेरा रूप।।

मेरा परम सत्य आध्यात्मिक, भौतिक तत्त्वों से परे ऽऽऽ
मैं भी हूँ, मैं भी हूँ, परमात्मा स्वरूप मैं भी हूँ....(1)

अनन्त काल से संसार भ्रमण, स्व-आत्मा ने किया अभी तक।
भाई-बंधु-शत्रु-मित्र को, अपना-पराया मैं माना।।
इस भ्रम को दूर करने हेतु जाना मैंने भेद-ज्ञान ऽऽऽ मैं भी हूँ...(2)

अनन्त भावों में भटका था, आत्म स्वरूप को न जाना।
भौतिक सुख को अपना माना, अतः भटका अनादि से।।
अतएव अब मैं श्रमण बनकर, ध्यान-अध्ययन करूँ ऽऽऽ मैं भी हूँ...(3)

राग-द्वेष-मोह से युक्त जीव, न जान पाया स्व-स्वरूप।
क्रोध-मान-लोभ को त्यजकर, जाना अब स्व-स्वरूप।।
आत्म तत्त्व ही सर्वस्व है, मोक्ष प्राप्ति हेतु ऽऽऽ मैं भी हूँ...(4)

कनक गुरु आध्यात्मिक संत, रोहित के शिक्षा गुरु।
उक्त आत्मिक ज्ञान कराकर, मुझे किया है धन्य।।
परमानन्द-ज्ञानानन्द-निजानन्द है मम रूप ऽऽऽ मैं भी हूँ...(5)

सागवाड़ा दि 18/05/2018 मध्याह्न 01:20

"गणधरदेव की स्तुति"

(चाल:आधा है चन्द्रमा)

-आचार्य कनकनन्दी

करता हूँ वन्दना गणधर, चौसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वर।। ध्रु.।।

आप हो गणधर गणनायक, गणपति गणेश-मुख्यशिष्य।
मतिश्रुत अवधि मनःपर्ययुक्त, चौसठऋद्धि से आप शोभित।।
हजार साठ प्रश्न आप किये, जिनवाणी का सम्पादन किये।
तद्भव में आप जाते मोक्ष, अनन्तगुणगणों से सहित।।(1)

अवधि-मनःपर्ययऋद्धि सह, कोष्ठ बीजबुद्धिऋद्धि युक्त।
पदानुसारी संभिन्न श्रोतृऋद्धि, स्वयंबुद्ध-प्रत्येकबुद्धि ऋद्धि।।

बोधितबुद्ध ऋजुमति ऋद्धि, विपुलमति-मनः पर्ययऋद्धि।
अभिन्नदर्शपूर्विक ऋद्धि, चौदशपूर्वधारी ऋद्धि युक्त।। (2)
अष्टमहानिमित्त कुशलता ऋद्धि, विक्रिया-विद्याधर ऋद्धि धारी।
चारणप्रज्ञाश्रमण ऋद्धि धारी, आकाशगामिनी ऋद्धि धारी।।
आशीर्विष-दृष्टिविष-उग्रतप, दीप्ततप-तप्ततप-महातप।
घोरतपऋद्धि-घोरगुणऋद्धि, घोरपराक्रमऋद्धि युक्त।। (3)
अघोरगुण ब्रह्मचारी ऋद्धियुक्त, आमर्षौषधि ऋद्धि सहित।
खेल्लौषधि-जल्लौषधि युक्त, विप्लवौषधि-विष्ठौषधि ऋद्धि।।
सर्वोषधि-मनबलऋद्धि युक्त, वचनबली-कायबली ऋद्धि युक्त।।
क्षीरस्रावी-सर्पिस्रावी ऋद्धि युक्त, मधुस्रावी-अमृतस्रावी ऋद्धि युक्त।। (8)
अक्षीण महानस-वर्द्धमानऋद्धि, तप आध्यात्मिक साधना उपलब्धि।
तथापि न करते दुरुपयोग कभी, सदुपयोग परे आत्मशुद्धि वृद्धि।।
ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि वर्चस्व परे, निस्पृह-समता से आत्मिक शुद्ध।
अन्त में बनते आप शुद्ध-बुद्ध, तव गुण प्राप्ति चाहे 'कनकनन्दी'।। (9)

सागवाड़ा-27.05.2018 रात्रि 09:04

(गणधर-वलय)

संदर्भ-

जिनान् जिताराति-गणान् गरिष्ठान्,
देशावधीन् सर्व-परावधींश्च।

सत्-कोष्ठ-बीजादि-पदानुसारीन्
स्तुवे गणेशानपि तद्-गुणाप्त्यै।।1।।

अन्वयार्थ-(जित आराति) जीत लिया है घातिकर्म रूप शत्रुओं को जिनने ऐसे (जिनान्) जिनेन्द्र भगवान् को (गणान्) गुणों में (गरिष्ठान्) श्रेष्ठ (देशावधीन्) देशावधि (सर्वपरावधीन् च) सर्वावधि और परमावधि धारक (सत् कोष्ठ बीज आदि पदानुसारीन्) कोष्ठ ऋद्धि, बीज ऋद्धि पदानुसारि आदि ऋद्धि के धारक (गणेशान्

अपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणाप्त्यै) गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

संभिन्न-श्रोतान्वित-सन्-मुनीन्द्रान,
प्रत्येक-सम्बोधित-बुद्ध-धर्मान्।
स्वयं-प्रबुद्धांश्च विमुक्ति-मार्गान्,
स्तुवे गणेशानपि तद्-गुणाप्त्यैः।।2।।

अन्वयार्थ-(संभिन्न श्रोतान्वित) संभिन्न श्रोतृत्व से सहित (प्रत्येक सम्बोधित-बुद्ध) प्रत्येक बुद्ध, बोधितबुद्ध (च) और (स्वयं प्रबुद्धान्) स्वयं बुद्ध जो कि (विमुक्ति मार्गान् धर्मान्) मोक्षमार्ग रूप धर्म के (सन्मुनीन्द्रान) सच्चे मुनियों के स्वामी हैं ऐसे (गणेशान् अपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणाप्त्यै) गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

द्विधा मनःपर्यय-चित्-प्रयुक्तान्,
द्विपश्च-सप्तद्वय-पूर्व-सक्तान्।
अष्टांग-नैमित्तिक शास्त्र-दक्षान्,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यैः।।3।।

अन्वयार्थ-(द्विधा मनः पर्ययचित्प्रयुक्तान्) दो प्रकार के मनःपर्ययज्ञान के धारक (द्विपश्च) दस पूर्व (सप्तद्वयपूर्वसक्तान्) चौदह पूर्व के धारक (अष्टाङ्गनैमित्तिक शास्त्रदक्षान्) अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता, कुशल शास्त्रज्ञ (गणेशानपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणाप्त्यै) गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

विकुर्वणाख्यर्द्धि-महा-प्रभावान्,
विद्याधरांश्चारण-ऋद्धि-प्राप्तान्।
प्रज्ञाश्रितान् नित्य-ख-गामिनश्च,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।।4।।

अन्वयार्थ-(महाप्रभावान्) महा प्रभावशाली (विकुर्वणाख्य ऋद्धि) विक्रिया नामक ऋद्धि के धारक, (विद्याधारक) (चारण-ऋद्धि प्राप्तान्) चारण ऋद्धि को प्राप्त (प्रज्ञाश्रितान्) प्रज्ञावान, (च) और (नित्य) सदा (खगामिनः) आकाश में गमन करने वाले (गणेशानपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणात्यै) गुणों की प्राप्ति के

लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

आशी र्विषान् दृष्टि-विषान् मुनीन्द्रा-,
नुग्राति-दीप्तोत्तम-तप्त तप्तान्।
महातिघोर-प्रतपः प्रसक्तान्,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।।5।।

अन्वयार्थ-(आशीर्विषान्) आशीविष (दृष्टिविषान्) दृष्टिविष ऋद्धि के धारक (मुनीन्द्रान्) मुनियों को (उग्रअति) अति उग्र/उग्राग्र तप (दीप्त उत्तम) उत्तम दीप्त तप (तप्ततप्तान्) तप्त तप/घोर तप (महा अति घोर प्रतपः) महा अतिघोर प्रकृष्ट तप के धारक (गणेशानपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणाप्त्यै) गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

वन्द्यान् सुरै-र्घोर-गुणांश्च लोके,
पूज्यान् बुधै-र्घोर-पराक्रमांश्च।
घोरादि-संसद्-गुण ब्रह्म युक्तान्,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।।6।।

अन्वयार्थ-(सुरैः) देवों के द्वारा (वंद्यान्) वंदित (लोके पूज्यान्) लोक में पूज्य (घोरगुणान्) घोर गुणों के धारक (च) और (बुधैः पूज्यान्) लोक में ज्ञानियों के द्वारा पूज्य (घोरपराक्रमान्) घोर पराक्रम धारक (घोरादिसंसद् गुणब्रह्मयुक्तान्) समीचीन श्रेष्ठ घोर गुण ब्रह्मचर्य आदि से युक्त (गणेशानपि) गणधर देवों की (तद्-गुणाप्त्यै) उनके गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) स्तुति करता हूँ।

आमर्द्धि-खेलर्द्धि-प्रजल्ल-विडर्द्धि-
सर्वर्द्धि-प्राप्तांश्च व्यथादि-हंत्रृन्।
मनो-वचः काय-बलोपयुक्तान्।
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।। 7।।

अन्वयार्थ-(आमर्द्धिखेलर्द्धिप्रजल्लविडर्द्धि) आमर्द्धि, खेलर्द्धि, प्रकृष्ट जल्लऋद्धि, विड्ऋद्धि (सर्वर्द्धिप्राप्तान् च) और सर्वऋद्धि प्राप्त (व्यथा आदि हंतृन्) पीड़ा आदि को हरने वाले (मनः वचः काय बल उपयुक्तान्) मनोबली, वचन बल, काय बल ऋद्धि से युक्त (गणेशानपि) गणधर देवों की (तद्) उनके (गुणाप्त्यै) गुणों

की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

सत् क्षीर-सर्पि-र्मधुरामृतर्द्धीन्,
यतीन् वराक्षीण महानसांश्च।
प्रवर्धमानांस्त्रिजगत्-प्रपूज्यान्,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।।8।।

अन्वयार्थ-(सत्क्षीरसर्पिर्मधुरामृतर्द्धीन्) (सत्क्षीर, सर्पिः मधुर अमृत ऋद्धीन्) समीचीन क्षीरस्रावी, सर्पिस्रावी, मधुरस्रावी और अमृतस्रावी ऋद्धि के धारक (वर अक्षीण महानसान् च) श्रेष्ठ अक्षीण संवास और अक्षीण महानस ऋद्धियों से (प्रवर्धमानान्) सुशोभित (त्रिजगत्प्रपूज्यान्) तीन लोक में पूज्य (यतीन्) यतिराज (गणेशानापि) गणधरों की (तद्गुणाप्त्यै) उनके गुणों की प्राप्ति के लिये (स्तुवे) स्तुति करता हूँ।

सिद्धालयान् श्रीमहतोऽतिवीरान्,
श्रीवर्धमानर्द्धि विबुद्धि-दक्षान्।
सर्वान् मुनीन् मुक्तिवरा-नृषीन्द्रान,
स्तुवे गणेशानपि-तद्-गुणाप्त्यै।।9।।

अन्वयार्थ-(सिद्धालयान्) सिद्धालय में विराजमान (श्री महतः अतिवीरान्) श्री अति महान्, अति वीर (श्रीवर्द्धमान ऋद्धि, विबुद्धिदक्षान्) श्री वर्द्धमान ऋद्धि और विशिष्ट बुद्धि ऋद्धि में दक्ष, कुशल (मुक्तिवरान्) मुक्तिलक्ष्मी को वरण करने वाले (सर्वान् मुनीन्) सब मुनियों की (ऋषि इन्द्रान) ऋषिगणों को (गणेशानपि) तथा गणधर देवों की (तद्-गुणाप्त्यै) में उनके गुणों को प्राप्त करने के लिये (स्तुवे) स्तुति करता हूँ।

नृ-सुर-खचर-सेव्या विश्व-श्रेष्ठर्द्धि-भूषा,
विविध-गुण-समुद्रा मार मातंग-सिंहाः।
भव-जल-निधि-पोता वन्दिता मे दिशन्तु,
मुनि-गण-सकलाः श्री-सिद्धिदाः सदृषीन्द्रा।।10।।

अन्वयार्थ-(नृसुरखचरसेव्या) मनुष्य, देव, विद्याधरों से पूज्य (विश्वश्रेष्ठ ऋद्धिः भूषा) समस्त श्रेष्ठ ऋद्धियों से भूषित (विविध गुण समुद्रा) अनेक गुणों के

समुद्र (मार-मातङ्गसिंहा) कामदेवरूपी हाथी वश में करने के लिये जहाज (सदृशा) समान, (वन्दिता) वन्दना किये गये (मुनिगणसकलाः इन्द्रा) समस्त मुनि समूह/संघ के इन्द्र गणधर देव (मे सिद्धदाः दिशन्तु) मुझे सिद्धपद प्रदान करने वाले हों।

नित्यं यो गणभृन्मन्त्र, विशुद्धसन् जपत्यमुम्,
आस्रवस्तस्य पुण्यानां, निर्जरा पापकर्मणाम्।
नश्यादुपद्रवकाश्चिद्, व्याधिभूत विषादिभिः,
सदसत् वीक्षणे स्वप्ने, समाधिश्च भवेन्मृतो।।

अन्वयार्थ-(यः) जो (नित्यं) प्रतिदिन (विशुद्धः सन्) शुद्ध मन होता हुआ/शुद्धिपूर्वक (अमुम्) इस (गणभृन्मन्त्रं) गणधर वलय मन्त्र को आस्रव होता है तथा (पापकर्मणां निर्जरा) पापकर्मों की निर्जरा होती है (विषादिभिः व्याधिभूत) विष आदि से होने वाले रोग, पिशाच आदि (उपद्रवः) बाधा (नश्यात्) दूर होते हैं (स्वप्ने सत् असत् वीक्षणे) स्वप्न में शुभ-अशुभ दिखाई देता है (च) और (मृतौ) मरण समय में (समाधिः) समाधिकरण (भवेत्) होता है।

आत्मसाधक गुरु की वन्दना

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-तुम दिल की...)

धन्य गुरुवर! धन्य हो तुम...आत्मसाधना जो करते हो।
आत्मा की उपलब्धि हेतु ही...समस्त साधना करते हो।। (ध्रुव)

आपने जाना है स्व-आत्मतत्त्व को...निश्चय व व्यवहारनय से।
निश्चय से जाना स्वयं को शुद्ध-बुद्ध-अशुद्ध भी जाना व्यवहार से।
शुद्ध बनने हेतु ही आप की साधना...ज्ञान-ध्यान-तप त्याग से।
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध-मद्...ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-त्याग से।। (1)

इस हेतु ही त्यागा है आपने...सत्ता-सम्पत्ति-भोगों को।
भाई-बन्धु-कुटुम्ब त्यागा...ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व को।।
शत्रु-मित्र-अपना-पराया त्यागा...अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को।

भीड़-प्रदर्शन-आडम्बर भी त्यागा...भौतिक निर्माण चन्दा-चिट्ठा को।। (2)
कोई आये तो शुभाशीर्वाद...कोई न आये तो साम्यभाव ही।
भक्त-शिष्य-प्रति न मोह आपका...न आनेवालों को अभिशाप नहीं।।
आनेवालों प्रति न भौतिक मांग...जानेवालों प्रति न आग्रह भी।
सत्ता-सम्पत्ति वालों से न अपेक्षा...गरीब जनों प्रति न उपेक्षा भी।। (3)
मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ...सत्त्व गुणाधिक दुःखी विरोधी हो।
समस्त विभाव बन्धनों से परे...पावन उदार भाव-व्यवहार ही।।
समता सहिष्णुता-निस्पृहता सह...सरल-निर्मल-निश्चल ही।
आत्म अध्ययन सह स्वाध्याय-ध्यान...आत्म उपलब्धि हेतु ही समस्त कार्य।। (4)
अन्तरात्मा से बनते आप परमात्मा...आप सम बनने हेतु 'कनक' की प्रार्थना।।

सागवाड़ा दि. 16/05/2018 रात्रि 09:13

मुनिराज तत्त्वचिंतक होते हैं

संदर्भ–

तच्चवियारणसीलो मोक्ख महाराहणा सहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहा पसंगओ होइ मुणिराओ।।11

अर्थः–जिन मुनिराजों ने पूर्व में श्रुतज्ञान का अभ्यास किया है और वर्तमान में भी तत्त्वों का विचार करने में कुशल (चतुर) है, लीन हैं। मोक्षमार्ग की आराधना करने का जिन मुनिराज का स्वभाव हो जाता है और निरंतर अपना समय धर्म कथा में ही व्यतीत करते हैं। सदा धर्मरत रहते हैं। वे ही यथार्थ मुनिराज कहते हैं। वास्तविक यही मुनिराजों का स्वरूप है।

मुनिराज की अनवरत चर्या

विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइ विरहिओ णाणी।
धम्मुदेसण कुसलो अणुपेहा भावणाजुदो जोई।।100।।

अर्थः–ज्ञानी योगीराज सतत धर्म ध्यान में और अध्ययन में लवलीन रहते हैं।

स्त्री कथा, अर्थकथा, राजकथा, भोजन कथा, चोर कथा, वैर कथा, पाखण्डी कथा, देश कथा, स्वप्रशंसा संबंधी कथा, परनिन्दा प्रकट कथा, तथा आक्षेपिणी विक्षेपिणी कथा इन कुकथाओं से सर्वथा सर्वदा भिन्न रहते हैं।

विकल्प, द्वंद्व रहित मुनिराज

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मलसहाव जुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ।।101।।

अर्थः-परमोत्कृष्ट मुनीश्वर का स्वरूप यह है कि जो यतीश्वर शुभ अशुभ संकल्पों से विकल्पों से रहित हैं, कोई द्वंद्व नहीं है, निर्मोह हैं, कलंक रहित हैं, अपने स्वरूप में स्थिर हैं, निर्मल है, निर्भय है, स्वच्छ आत्म स्वभाव सहित है वे ही मुनिनाथ है। स्व पर के हितकारी है।

मुनिराज कैसे होते है?

णिंदा वंचण दूरो परीसह उवसग्ग दुक्ख सहभावो।
सुहज्झाणज्झयण रदो गयसंगो होइ मुणिराओ।।102।।

अर्थः-जो निंदादिक गर्हित वचनों से रहित हैं अर्थात् कभी किसी की भी किसी भी प्रकार की निंदा नहीं करते हैं। मायाचार कुटिलपना भावों को स्पर्श भी नहीं करते हैं। परीषहों और उपसर्ग के भयंकर दुःख को समभाव से सहते हैं। साम्यभाव के धारक हैं, शुभध्यान व अध्ययन में सदा तत्पर रहते हैं। तथा चौबीस प्रकार के परिग्रह से सर्वथा रहित नग्न-दिगम्बर निर्ग्रंथ प्रत्यक्ष हैं वे ही यतीश्वर होते हैं।

मिथ्यात्व सहित मुक्ति नहीं

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छ भावसंजुत्तो।
सव्वण्णुवएसे सो णिव्वाणसुखं ण गच्छेई।।103।।

अर्थः-जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्या भावों को धारण करता है और मिथ्या भावों के उदय में अत्यंत तीव्र रूप से तपश्चरण भी करता है, इससे केवल मात्र

शरीर को ही कष्ट देता है, परन्तु निर्वाण पद को नहीं पाता है-मोक्ष नहीं जा सकता है।

इस मिथ्या तपस्या का फल संसार के अल्प सुख के लिए प्राप्त होता है फिर भी इस मिथ्या फल के उदय से मिथ्या कार्य ही किया करता है।

क्योंकि निज आत्मा के सम्यग्दर्शन युक्त तपश्चरण नहीं है। मिथ्यात्व सहित तपश्चरण कर्म बंध से संसार भ्रमण के लिए कारण है और सम्यक्त्व सहित तपश्चरण कर्म निर्जरा का कारण होने से निर्वाण पद को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध स्थान पर गमन करता है। यह समस्त उपदेश सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् का है।

रागी को आत्मा का दर्शन नहीं

रायादिमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सए किं पि।
समला दरिसे रूवं ण दिस्सए जहा तहा णेयं।।104।।

अर्थः-जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना यथार्थ शरीर का रूप दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार जिनका आत्मा मिथ्यारूप रागद्वेष आदि दोषों से मलिन है, उस मलिन आत्मा में आत्मा का यथार्थ स्व-रूप कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

दीर्घ संसारी

दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू।
भंडण जायण सीलो हिंडइ सो दीह संसारे।।105।।

अर्थः-मनोदंड कायदंड अर्थात् मन वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति का होना। मिथ्याशल्य निदान शल्यों सहित। ईर्ष्यावान् तथा परस्पर में बात-बात में झगड़ा करने वाला और किसी भी चीज की याचना करने में कुशल है ऐसा साधु दीर्घ संसार में जन्म मरण करते हुए भ्रमण करता है।

सम्यक्त्व रहित साधु कौन

देहादिसुअणुरत्ता विसयासत्ता कसाय संजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।।106।।

अर्थः-जो साधु आत्मस्वभाव के विषय में अनभिज्ञ हैं, अपने शरीर को सुंदर कांतिमान बलवान् बनाने में आसक्त है, पाँचो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त रहते हैं, सदा क्रोधादि कषायों में रहते हैं, आत्म स्वभाव में जाग्रत नहीं है अर्थात् आत्मस्वरूप का विचार ही नहीं हैं, ऐसे मुनि सम्यक्त्व रहित होते हैं।

जैन धर्म के विराधक

आरंभे धणधाण्णे उवयरणे कंक्खिया राहा सूर्या।
वयगुणसील विहीणा कसाय-कलकप्पिया मुहरा।।107।।
संघविरोह कुसला सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा।
रायाई सेवया ते जिणधम्म विराहिया साहू।।108।।

अर्थः-जो साधु खेती करवाना, कुँआ खोदवाना, मकान मंदिर आदि बनवाना, अग्नि शिलगाना, जलादि सिंचन करना, व्यापार कार्यों में रूचि रखना, पेड़ पौधे लगवाना आदि अनेक प्रकार के आरंभादि कार्यों में रत रहने वाला, बैल, घोड़ा, हाथी आदि पालते है और अनाज आदि संग्रह करते हैं। बड़े पंख से पिच्छी को मोटी सजावट से और सुंदर ढंग से बनवाते हैं, कमंडलु की सुंदरता के लिए रोगन रंग से सजाते हैं, पुस्तक शास्त्रों के संग्रह ठीक ठाक दिखाई देने में लगे रहते हैं और संघस्थ मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओं के प्रति ईर्ष्याभाव रखते हैं, कलह करते हैं, झगड़ा करते हैं। पाँच महाव्रत पाँच समिति तीन गुप्ति 25 मूल गुणों का पालन, विचार भी नहीं करते हैं, और मैं व्रती त्यागी संयमी साधु हूँ इसका भी विचार विस्मर नहीं रखते हैं।

ऐसे साधु ना अपना, ना धर्म का, ना मुक्तिमार्ग का हित करने वाला नहीं होता है।

सम्यक्त्व से रहित है, मिथ्यादृष्टि, ऊपरी भेष धारण करने वाला साधु है, इसका साधु मुनि स्वयं विचार कर मुक्ति पथ पर चले यही आचार्यों का कहना हैं, भगवान् का उपदेश है।

श्रमणों को दूषित करने योग्य कार्य

जोइसविज्जामंत्तोपजीवणं वायवस्स ववहारं।

धणधण्णं पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ।।109।।

अर्थः-श्रमण मुनि ज्योतिष बताकर, मंत्र तंत्र विद्या आदि देकर या बताकर अपने जीवन को चलाते हैं। धन धान्य आदि परिग्रह इकट्ठा करते हैं। भूत बाधा, प्रेत, मंत्रादि द्वारा व्यवहार करते हैं, यह मुनि जनों के लिए बाधाकारी है, दूषण है, यह मुनिधर्म-यतिमार्ग नहीं है।

सम्यक्त्वविहीन मुनि

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।

लोयववहार पउरा ते साहू सम्म उम्मुक्का।।110।।

अर्थः-जो साधु पापरूप कार्यों में, आरंभादि कार्यों में लीन रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों से सहित है। परिग्रह में सदा लगे रहते हैं। लोक व्यवहार में खूब प्रवीण हैं, ऐसे साधु सम्यक्त्व रहित होते हैं।

पापी जीव

चम्मट्ठि मंसलव लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।

जह पाविट्ठो सो धम्मट्ठिं दिट्ठा सगीयट्ठो।।111।।

अर्थः-जिस प्रकार चर्म मांस हड्डी खाने वाला लोलुपी कुत्ता अन्य कुत्तों को देखकर भौंकता है और इतना ही नहीं बल्कि धर्मात्मा पुरुष, मुनिजन, इनको भी देखकर भौंकता है। इसी प्रकार दुर्जन अधर्मी पापी लोग भी धर्मभक्त, दानी, गुणी पुरुषों को देखकर तथा मुनि त्यागी जनों को देखकर उनका तिरस्कार करते हैं, कुछ का कुछ विरोध में बोलते हैं।

सम्यक्त्व से विमुख जिव्हा इन्द्रिय लोलुपी

ण सहंति इयरदप्पं थुवंतिअप्पाण अप्पमाहप्पं।

जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्म उम्मुक्का।।112।।

अन्वयार्थः-(इयरदप्पं) जो साधु दूसरे साधुओं के यश कीर्ति को (ण सहंति) सहन नहीं करते हैं (अप्पाण मप्प माहप्पं) अपनी आत्म प्रशंसा कर लेते हैं (थुवंति) स्तुति कर लेते हैं (जिब्भणिमित्तं) जिव्हा इंन्द्रिय के लोलुपता के कारण (कुणंति) प्रयत्न करते हैं (ते साहू) वे साधु (सम्मउमुक्का) सम्यक्त्व से विमुख है।

आत्मदर्शन हेतु होता धर्म, प्रदर्शन से/(मैं) होता अधर्म

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-तुम दिल की... जय हनुमान...)

आत्मदर्शन हेतु होता है धर्म, प्रदर्शन से/(मैं) किन्तु होता अधर्म।
आत्मविश्वास से धर्म प्रारंभ, प्रदर्शन से/(मैं) होता दंभ भाव।।
आत्मश्रद्धान से आत्मविश्वास, निश्चय व्यवहार से मैं जीव द्रव्य।
निश्चय से मैं हूँ सिद्ध समान, व्यवहार से मेरा भवभ्रमण।। (1)

कर्मबंध से मेरा भव भ्रमण, आत्मदर्शन से करूँ कर्म विनाश/(संहार)।
ऐसे भाव से जो करे धर्माचरण, उसका धर्म होता है आत्मदर्शन।।
इसमें न होते ढोंग-पाखण्ड-दिखावा-आडम्बर-दंभ भाव।
इसमें होती श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या, स्व-पर विश्व हित हेतु भावना।। (2)

ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि परे, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-वर्चस्व परे।
उदार-समता-सहिष्णुता युक्त, निस्पृह पावन भावना युक्त।।
इससे आत्मा की विशुद्धि होती, सातिशय पुण्य प्रकृति बन्धती।
पापकर्म की निर्जरा होती, स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती।। (3)

इससे विपरीत होता प्रदर्शन, आत्मश्रद्धान बिन दंभ प्रदर्शन।
इससे न होती सही श्रद्धा-प्रज्ञा, दिखावा आडम्बर की होती भावना।
इसमें होते 'अहंकार' 'ममकार', ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा व वर्चस्व।
दीनता-हीनता व कायरता होती, स्वतंत्रता व मौलिकता न होती।। (4)

इससे होती मिथ्या प्रशंसा, जिससे प्रदर्शन की बढ़ती लालसा।
इससे और भी बढता दंभ, जिससे बढ़ते अनर्थ काम।।

इस हेतु चाहिए धन-जन-साधन-समय-श्रम से ले उपकरण।
अन्यथा न होता सही प्रदर्शन, जिससे होता संक्लेश परिणाम।। (5)
इससे और भी होता पाप बन्ध, इह-पर लोक में मिलते दुःख।
सज्जन गुणग्राही न करे प्रशंसा, अज्ञानी-मोही-स्वार्थी भले करे प्रशंसा।
प्रदर्शन हेतु जो करते धर्म, वे बान्धते पापानुबन्धी पुण्य।
इससे मिले थोड़े सांसारिक सुख, उसमें आसक्त हो अधिक करे पाप।। (6)
इससे संसार में होता भ्रमण, रावण-कंस आदि उदाहरण।
आत्मदर्शन से अतः करणीय धर्म, 'कनक' का लक्ष्य पूर्ण आत्मदर्शन।। (7)

सागवाड़ा दि. 17/05/2018 रात्रि 09:10

संदर्भ-जिन कारणों से जीवों के परिणामों में रागद्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि विकार विकृत भाव परिणाम हों उनको अशुभभाव कहते हैं।

शुभ भाव रूप परिणाम

दव्वत्थकायछप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे वारसणुवेक्खे।।64।।
रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो।।65।।

भावार्थः-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये अस्तिकाय/जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व/जीव, अजीव पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष ये नव पदार्थ/इनमें बंध, मोक्ष के कारणों की जानकारी। बारह भावना (अनुप्रेक्षा) का चिंतन/रत्नत्रय स्वरूप को जानना। देव पूजा, दान, स्वाध्याय, सामायिक, गुरुपास्ति, संयम की नित्य क्रिया करना। दया क्षमा आदि दश सद्धर्म का पालन करना। इन सभी भाव को और क्रिया रूचि पूर्वक करता है। प्रवृत्ति रूप प्रवर्तता है। उसके शुभभाव होते हैं। ऐसी क्रिया रूप भाव को शुभ भाव कहते हैं।

निर्णय स्वयं का

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गइ णियमा।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुच्चइ तं कुण हो।।66।।

अर्थः-सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीवों को नियम से शुभ गति होती है और मिथ्यात्व से नियम पूर्वक दुर्गति होती है। इसलिए हे भव्य! तुझको जो अच्छा लगे वह कर, अधिक क्या कहे।

मोही जीव के भवतीर नहीं

मोह ण च्छिज्जइ अप्पा दारूण कम्मं करेइ बहुवारं।
णहु पावइ भवतीरं किं बहु दुक्खं वहेइ मूढमइ।।67।।

अर्थः-हे अज्ञानी मूढमति आत्मन्! तू मोह को क्यों नहीं छोड़ता है? इस मोह के कारण ही तुझे बहुत ही बार नीच कर्मों को करके संसार भ्रमण करना पड़ रहा है। इस कारण संसार समुद्र का किनारा नहीं प्राप्त हो रहा है। तू बहुत ही दुःख को भोग रहा।

मात्र भेष/लिंग से कल्याण नहीं

धरियउ वाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि।
करियउ किरियाकम्मं मरिउ जंमिउ वहिरप्पुजिउ।।68।।

अर्थः-बहिरात्मा जीव-सम्यक्त्व रहित बाह्य लिंग को धारण कर अर्थात् मुनि अवस्था को धारण करता है और प्रकट रूप से इन्द्रियों के बाह्य सुख का त्याग करता है, अनेक प्रकार के बाह्य कठिन व्रताचरण करता है परन्तु फिर भी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव जन्म मरण के दारुण दुःखों को प्राप्त होता है।

भावार्थः-सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य मुनिलिंग और व्रताचरण से भी संसार का नाश नहीं होता है, जन्म मरण का नाश नहीं कर सकता है।

मिथ्यात्व के नाश बिना मोक्ष नहीं

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठितणुदिट्ठी।
मिच्छाभाव ण च्छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि।।69।।

अर्थः-अज्ञान मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव मिथ्यात्व भाव को छोड़ता नहीं, स्वर्ग की इच्छा करता है, अपने शरीर का पोषण करता है, मोक्ष पाने के लिए बहुत से काय क्लेश करता है, बाह्य अनेक प्रकार के तप करता है, कायक्लेश दुःखों को सहता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को मोक्ष सुख वास्तव में कैसे प्राप्त हो सकता है? नहीं हो सकता।

भावार्थः-मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष प्राप्ति के लिए अनेक विध व्रत तप आदि शरीर के माध्यम से करता है लेकिन भीतरी मिथ्याभाव को नहीं छोड़ता। मिथ्याभाव को त्याग किये बिना मोक्ष का, आत्मा का सुख कैसे प्राप्त होगा? नहीं होगा।

बामी को पीटने से क्या लाभ?

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लोए।।70।।

अर्थः-हे बहिरात्मा तू! जब तक क्रोध, मान, मोह आदि कषाय दुर्भावों को नहीं छोड़ता है, उनका दमन शमन नहीं करता है, और शरीर को ही उपवास आदि के द्वारा कष्ट देता हैं, दंड देता है, क्या इससे तेरे कर्म नष्ट होंगे? नहीं होंगे। जैसे लोक व्यवहार में सर्प के बामी पीटता जाय तो भीतर बैठा हुआ सर्प मर जायेगा? कभी नहीं मरेगा। उसी प्रकार जब तक भीतर के अपने क्रोधादि कषाय, विकार भाव, विपरीत भाव-परिणाम नष्ट नहीं होंगे, निर्मल नहीं होंगे तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

संयमी कौन?

उपसम तव भाव जुदो णाणी से भावसंजुदो होई।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव।।71।।

अर्थः-उपशम भाव से व्रत तपश्चरण चारित्र आदि धारण किये जाये अर्थात् उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र को धारण करने वाला जीव कषायों का उपशम होने पर वह तपस्वी भाव संयत होता है।

परन्तु कषाय के वशीभूत होकर व्रत तपश्चरण उपवास चारित्र आदि धारण किये जाए तो वे असंयमभाव को ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ:-सम्यग्दृष्टि जीवों के उपशम भाव से जब तक व्रतादि होते हैं तब तक उनके संयम भाव होता है, परन्तु अनेक शास्त्रों का ज्ञाता महाज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के अभिमान में कषायों से व्रतादिक को धारण करता है तब उस समय में उसके भावों में कलुषित, विकृत, कषाय रंजित भाव परिणाम होने से असंयत भाव ही रहते हैं।

ज्ञान मात्र से कर्म का क्षय नहीं हो सकता

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणेदि सुबोलए अण्णाणी।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही।।72।।

अर्थ:-कोई कहता कि कि ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से कर्मों को नष्ट कर देता है, सो वह कहने वाला अज्ञानी है। क्योंकि बिना चारित्र के अकेले ज्ञान मात्र से कभी कर्म नष्ट नहीं हो सकते हैं। मैं वैद्य हूँ, सभी औषाधि को जानता हूँ, ऐसे कहने मात्र से व्याधियाँ नष्ट होती है।

मोक्षपथ का पथ्य

पुव्वं सेवइ मिच्छामल सोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामय णासण चरिय सम्म भेसज्जं।।73।।

अर्थ:-प्रथम मिथ्यात्व महा भयंकर रोग है। भव्य जीवों का सबसे प्रथम मिथ्यात्वरूपी मल का शोधन सम्यक्त्व रूपी रसायन से करना चाहिए। पश्चात् चारित्र रूपी औषधि को सेवन करना चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से चारित्र मोहनीय कर्मरूपी रोग का तत्काल ही नियम पूर्वक नाश होता है। तीर्थंकर के सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान होते हुए भी चारित्र को अपनाना ही पड़ा।

ज्ञानी और अज्ञानी

अण्णाणी विसय विरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिदठं।।74।।

अर्थ:-मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) जीव पंचेन्द्रियों के विषय भोगों से विरक्त है और

सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) पुरुष कषायों से विरक्त है, इनमें मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हजारों गुणा सुफल को प्राप्त करता है। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि पुरुष की विषय भोगों को सेवन करते हुए भी, मिथ्यादृष्टि जिनलिंग धारी की अपेक्षा से असंख्य गुणा कर्मों की निर्जरा होती है। प्रथम तो मिथ्यादृष्टि के कर्मों की निर्जरा होती हो नहीं है। कदाचित् वह मिथ्यादृष्टि मनुष्य मोहनीय कर्म के मंदोदय से श्री जिनेन्द्र भगवान् के कथन के अनुसार चारित्र को धारण भी करता है और समस्त प्रकार के विषय भोगों का त्याग भी करता है तो भी मिथ्यादृष्टि के कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। हाँ, संसार भ्रमण के पुण्य की प्राप्ति अवश्य होती है। तात्पर्य यह है कि-मिथ्यादृष्टि की कर्मों की निर्जरा नहीं होती है और सम्यग्दृष्टि पुरुष के विषय भोगों का सेवन दीर्घ संसार का कारण नहीं है। (जैसे भरत चक्रवर्ती संसार भोगों में होते हुए भी बंध का कारण नहीं था)

वैराग्य के बिना भाव

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा एदेदो वारिया भणिया।।75।।

अर्थः-भक्ति के बिना विनय करना या दिखाना, स्नेह के बिना स्त्रियों का रुदन करना, वैराग्य भाव के बिना त्याग करना यह सब दिखावटी है, विडंबना है। भक्ति प्रेम रुदन आदि छल कपट से किया जाता है वह विडंबना है। उसी प्रकार बिना वैराग्य, अंतरंग भाव रहित घर परिवार का त्याग कर देना यह अपनी आत्मा की, जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हुए मार्ग धर्म की विडंबना ही है।

भाव शून्य क्रिया से अलाभ

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।
वेरग्ग णाण संजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते।।76।।

अर्थः-शूरत्व शक्ति के बिना शूरवीर-सुभट कहना, स्त्री की सौभाग्यत्व के बिना शोभायमान प्रसन्न मुख नहीं दिखाई देती है। उसी प्रकार संयम ज्ञान और वैराग्य

के बिना मुनीश्वर की भी यथेष्ट सिद्धि नहीं होती है।

संयम ज्ञान वैराग्य भावना से ही मुनीश्वर को मोक्ष की सिद्धि होती है।

अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा

वत्थुसमग्गो मूढ़ो लोहिय लब्भइ फलं जहा पच्छा।

अण्णाणी जो विसयासत्तो लहइ तहा चेव।।77।।

अर्थः-अज्ञानी मूर्ख लोभी पुरुष आरंभ लोभ कषाय आदि क्रिया परिणामों से बहुत सा धन एकत्र करता है। वस्तु की परिपूर्णता होने पर भी आगे और भी लालसा रखते हुए कमाई में लगा रहता है। कमाया हुआ धन उसका फल भी भोग नहीं सकता। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य विषयों में आसक्त होने पर भी उसका फल प्राप्त नहीं कर सकता केवल अभिलाषा ही करता है।

फल को कौन प्राप्त करता है?

वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ।

णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव।।78।।

अर्थः-सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष धन संपत्ति और वैभव को सुपात्र में दान देकर चक्रवर्ती तीर्थंकर इंद्र नागेन्द्रादि पद को प्राप्त कर, समस्त भोगोंपभोगों की सामग्री सुख से भोग कर उस संपत्ति ऐश्वर्य आदि समस्त वस्तुओं का (परिग्रह का) समझ कर त्याग करते हैं। दिगम्बरत्व की दीक्षा धारण कर तपस्या के द्वारा मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं।

अर्थात् परिग्रहादि भोगों से विषय कषायों से विरक्त होकर चारित्र को पालन करते हैं और कर्मों का क्षय कर उसी भव में मोक्ष जाते हैं। बाह्य परिग्रहादि वैभव और अंतरंग कषायादि परिणाम इनको त्यागते हैं, वे ही सम्यग्ज्ञानी पुरुष चारित्र को धारण कर मोक्ष सुख को पाते हैं।

सम्यग्दृष्टि के सभी कार्य अलौकिक होते हैं।

समकित-ज्ञान वैराग्य औषधि

भू महिला कणयाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाण वेरग्गोसहमंतेण जिणुद्दिट्ठं।।79।।

अर्थः-भूमि-राज्य, महल, महिला स्वर्ण चाँदी आदि विभूति के लोभ, क्रोध, मान, माया के कषाय रूप जहरी सर्प के विष का विनाश निवारण के लिए सम्यग्दर्शन युक्त ज्ञान चारित्र तथा वैराग्य भावरूपी अमोघ मंत्र से ही नष्ट हो सकता है। यही फलप्रद है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है, उपदेश दिया है।

मुनि दीक्षा से पूर्व 10 का मुंडन आवश्यक

पुव्वं जो पंचिंदिय तणु मणु वचि हत्थपाय मुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ।।80।।

अर्थः-सबसे प्रथम अपनी पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये। फिर क्रम से मन, वचन, काय और हाथ पैर इनको काबू में रखना चाहिए। फिर इनके बाद शिर का मुंडन करना चाहिए। इससे भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की शीघ्र प्राप्ति होती है।

भावार्थ : भव्य जीवों को दीक्षा से पूर्व ही सम्यग्दर्शन के भावों सहित दीक्षा धारण करने का प्रयास-प्रयत्न करना चाहिये। उसी के साथ-साथ ही वैराग्य और ज्ञान भावना से पाँच इन्द्रिय और मन वचन काय तथा हाथ पैर इनको चारित्र पूर्वक वश में करना चाहिए। भाव चारित्र और द्रव्य चारित्र के द्वारा संवर भाव से कर्मों के आश्रव को रोकना चाहिए। यदि भाव दीक्षा है तो द्रव्यदीक्षा उपयोगी सही है। केवल भाव दीक्षा को सही कहना अथवा केवल मात्र द्रव्य दीक्षा को सही कहना दोनों गलत है परन्तु द्रव्य दीक्षा से भाव दीक्षा प्रकट हो सकती है किन्तु केवल मात्र भाव दीक्षा से ही मोक्ष प्राप्ति होती है, द्रव्य दीक्षा की आवश्यकता नहीं कहना और द्रव्यदीक्षा का निषेध करना यह कहने वाले के मिथ्याभाव है।

भक्ति बिना सब शून्य

पतिभत्ति विहीण सदी भिच्चो जिणसमयभत्ति हीण जई।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गइ मग्गाणुलग्गणो णियमा।।81।।

अर्थः-पति की भक्ति रहित स्त्री, स्वामी की भक्ति रहित नौकर, सेवक, जिन वचन-जिनागम शास्त्र की श्रद्धा भक्ति से रहित जैन श्रावक और यतिराज, तथा गुरु भक्ति रहित शिष्य ये सभी निंद्य व दुर्गति के पात्र है।

जरूरी है इन लोगों से दूरी बनाना

चाहे आप कामकाजी हों या होम मेकर कुछ नया कर गुजरने की चाह आपमें जरूरी होगी। ऑफिस में नई मंजिलें पाने की चाह तो घर पर रहते हुए अपने शौक और सपनों को पूरा करने की ख्वाहिश। मुमकिन है कि जब आप अपने सपनों के बारे में चर्चा करें तो लोग उन पर हैरानी जताएँ, उन्हें पाना असंभव बताएँ या नकार दें। अपने सपने को पाना आपके लिए बेहद चुनौतीपूर्ण भी हो सकता है, लेकिन किसी के विचारों से प्रभावित होकर या आशंकाओं से ग्रस्त होकर प्रयास छोड़ देना सही नहीं है। सबसे पहले आपको यह समझने की जरूरत है कि जो लोग आपके विचारों पर सवाल खड़े कर रहे हैं, आपको हतोत्साहित कर रहे हैं या आपको सावधान कर रहे हैं उनकी बात में कितना दम है।

आपसे जलने वाले

अगर आप अपने जीवन में खुशहाल और समृद्ध हैं तो आपसे जलने वालों की कमी नहीं होगी। ऐसे लोगों को आपकी खुशियों से ईर्ष्या हो सकती है। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं है कि आप कुछ नया पाने का ख्याब देखती हैं या कुछ नया हासिल करने की इच्छुक हैं। ऐसे लोगों को आप आसानी से पहचान सकती है। ऐसे लोग आपके विचार या लक्ष्य के नकारात्मक पहलू को दिखाने में लगे रहते हैं, चाहे वास्तविकता में ऐसा बिल्कुल न हो। वे आपके विचारों को पूरी तरह खारिज कर सकते हैं। ऐसे लोगों की सलाह मानने पर आप अपना भविष्य संकट में डाल सकती है।

शांत रहने वाले लोग

ऐसे लोग आपका विरोध नहीं करते, आपके सफर पर आपके साथ खड़े होते हैं। लेकिन उनकी प्रतिक्रियाओं से आपका मनोबल मजबूत नहीं होता, क्योंकि वे खुलकर आपके प्रयासों की सराहना नहीं करते। ऐसे लोग नकारात्मक होने या किसी

भी खराब प्रतिक्रिया से बचने के लिए अपने विचार व्यक्त करने से बचते हैं। ऐसे लोगों की खामोशी आपका ध्यान भंग कर सकती है या आपको विचलित कर सकती है इसलिए ऐसे लोगों के हावभाव या विचारों की परवाह किए बगैर पूरे आत्मविश्वास के साथ अपनी मंजिल की तरफ कदम बढ़ाएँ।

स्वांग भरने वाले

अपने आस-पड़ोस या परिजनों में आप ऐसे बहुत से लोगों को चिह्नित कर सकती हैं, जो इस बात का दंभ भरते हैं कि वे आपको प्रोत्साहित कर रहे हैं, लेकिन वास्तविकता में वे दिखावा ही कर रहे होते हैं। ऐसे लोगों को आपकी बातों या आपके प्रयासों में रुचि नहीं होती, लेकिन वह साथ में खड़े होकर वाहवाही लूटना चाहते हैं। ऐसे लोगों के पास न तो आपके लिए किसी तरह के अच्छे सुझाव होते हैं और न ही कोई बेहतर कार्य योजना। ऐसे लोगों को अपना हितैषी समझ उनकी आवभगत में समय खराब करने से अच्छा है कि आप अपनी प्राथमिकताओं पर ध्यान दें और तय समय सीमा के भीतर अपने लक्ष्य को पाने की योजना तैयार करें।

खामियाँ नजर आती हैं

अक्सर कहा जाता है कि निंदक नियरे राखिए। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि आलोचक उन चीजों की तरफ आपका ध्यान आकर्षित कराते हैं, जिन्हें संभवत आप नजर-अंदाज कर देती हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि आलोचना के जरिए एक बेहतर दृष्टिकोण मिल ही रहा हो। ऐसा भी संभव है कि आलोचक आपके विचारों पर इतने सवाल खड़े कर दें कि आपका आत्मविश्वास डगमगा जाए और अपने सपनों की राह पर चलने से आपको डर लगने लगे। आलोचकों के सुझावों को ध्यान से सुने लेकिन अपने जीवन या केरियर के मामले में अमल उन्हीं विचारों पर करें एवं जो आपके लिए सहज और व्यावहारिक हो।

अपनी बात मनवाना

ऐसा व्यवहार अक्सर वे लोग करते हैं, जो एक मुकाम तक पहुँच चुके हैं। अपनी तारीफों के पुल बाँधने वाले इस तरह के लोग खुद को हमेशा बहुत बड़ा दिखाने की कोशिश करते हैं। वो हमेशा खुद को प्रेरणा स्रोत के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोग असल में यही चाहते हैं कि आप अपना हर कदम उनसे पूछकर उठाएँ

और उनके अहम की तुष्टि करती रहें। ऐसे लोगों से सावधान रहने की जरूरत है। **(दैनिक नवज्योति)**

दिखावा रहित स्व-दर्शन करूँ

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः- 1.नहीं चाहिए दिल दुखाना किसी का....2. छिप गया कोई रे....)

नहीं चाहता मैं दिखावा कभी भी
किस को दिखाऊँ मैं, स्वयं को मैं देखूँ,,
अनन्त जीव है, अनन्त है काल
अनन्त है आकाश, अनन्त है पुद्गल
स्वयं को देखने से, देखूँगा सभी को.... नही....(1)

अनन्त होते है, परिवर्तन भी पंच....द्रव्यक्षेत्र काल व भाव रूप...
किया हूँ सभी मैं...परिवर्तन अनन्त.../(अनन्त हुए मेरे...सम्बन्ध अन्य से)...नहीं...(2)

माता-पिता-भाई-बन्धु...शत्रु व मित्र से...मरा व मारा हूँ मैं, खाया व खाया गया
भोगा व त्यागा हूँ...(किन्तु) न पाया मुझे मैं...नहीं...(3)

हुए हैं तीर्थंकर सिद्ध...राजा व चक्रवर्ती...सुरासुर देवेन्द्र नर, अनंतानन्त सभी...
इन्हें भी सभी अभी... न देखते जानते पूरे...नहीं...(4)

अन्य को दिखाने से, न लाभ कुछ...हानि होता विविध, होते रागद्वेषादि...
होते दीन-हीन दंभ, ईर्ष्या घृणा तृष्णादि...नहीं...(5)

आत्मिक विकास हेतु, उक्त बाधक सभी...आत्म विकास हेतु तो, आत्मा को देखूँ अभी...
मम ज्ञाता-दृष्टा-विधाता... मैं ही मेरा बनूँ...नहीं...(6)

भौतिक/(संसार) लाभ हेतु, दिखाते मोही स्वार्थी...व्यापार कला राजनीति, शोषण-शोषित नीर्ति
इस हेतु चाहिए धन जन...साधन उपकरण आदि...नहीं (7)

आत्मदर्शन हेतु जो...चक्री भी बने साधु...ध्यान-अध्ययन मौन से...बनते ज्ञाता-दृष्टा विभु
'कनक' स्वदर्शन से ही... बनूँ ज्ञाता-दृष्टा विभु...नहीं (8)

सागवाड़ा दिनांक 19-05-2018 रात्रि 09:09

संदर्भ- मेरा आत्मा सदा एक है, शाश्वत है, पवित्र है, ज्ञान स्वभावी है, अन्य सम्पूर्ण बाह्य में उत्पन्न होने वाले है वे सब कर्म से उत्पन्न है, वे सब अपने नहीं है, शाश्वतिक नहीं है।

प्राप्त शिक्षाएँ-ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त जीव हैं और प्रत्येक जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता वाला है। इसलिए तो कोई एक मरने पर ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीव नहीं मरते हैं, एक जीव जन्म लेने पर सम्पूर्ण जीव जन्म नहीं लेते है, ऐसा ही सुख-दुःख भाव-व्यवहार में भी जान लेना चाहिए। जीव द्रव्य/सत्य होने से अनादि अनन्त काल से है और अनन्त भविष्य तक होने से शाश्वत है। शुद्ध जीव शरीर-इन्द्रिय-मन-मस्तिष्क-मोह-रोग-द्वेष-कामादि भाव से रहित होने से निर्मल-अमूर्तिक-पवित्र है, ज्ञान स्वरूप ही आत्मा (जीव) है। अतः जीव की उत्पत्ति कोई निश्चित कालावधि में किसी निश्चित भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न होकर मरने के बाद नाश होने वाला नहीं है। जन्म-मरण, सांसारिक विभिन्न अवस्थाएँ, सम्बन्ध, सुख-दुःख आदि कर्मज है। कर्म सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले हैं। जैसा हि आकाश का दृश्यमान आकार-रूप-रंग आदि शुद्ध समस्त भाव-व्यवहार-अवस्थाएँ-शरीर-राग-द्वेष-ज्ञान आदि कर्म संयोग से उत्पन्न हुए है।

भौतिक-कर्मज आत्मा से भिन्न

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्ध-तस्यास्ति किं पुत्रकलमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः-कुतोहि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये।। (27) भा.द्वा.

How can he, who is not one even with own body, he connected with his son, wife, friends, when the skin is removed from the body, where the pores remain.

भावार्थ-जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है उसका पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ क्या एकत्व है? चमड़ी के पृथक् करने पर शरीर में बालों के छिद्र निश्चय से किस प्रकार रह सकते है? अर्थात् निश्चय से बालों के छिद्र नहीं रह सकते है?

प्राप्त शिक्षाएँ-शरीर का निर्माण माता के रज-वीर्य एंव कर्म (नो कर्म) के उदय से होता है। रज-वीर्य एवं कर्म पौद्गलिक (भौतिक-रासायनिक) है जब कि आत्मा (शुद्धात्मा) अमूर्तिक-चैतन्य (ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-आध्यात्मिक शक्ति)

स्वरूप है। इस दृष्टि से शरीर से विजातीय द्रव्य आत्मा होने से शरीर से पृथक् आत्मा है। शरीर से सम्बन्धित माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र आदि तक तो पृथक्/भिन्न/अलग है ही। जैसा कि चर्म को शरीर से अलग करने से बाल के छिद्र भी अलग हो जाते हैं क्योंकि वह छिद्रचर्म के आश्रय से होते है वैसा ही शरीराश्रित माता-पितादि भी आत्मा से भिन्न है। अतः शरीर के समान ही माता पितादि के प्रति मोह/ममत्व/राग/एकत्व भाव नहीं रखना चाहिये।

यद्यपि संसारावस्था में व्यवहार नय से जीव एवं शरीर तिल-तैल, दूध-घी, दूध-पानी के जैसे एकमेक सा हो रहे हैं (लग रहे हैं) तथापि शुद्ध निश्चय से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न-भिन्न है। ऐसा श्रद्धान-विवेक रखते हुए यथा योग्य स्व शरीर तथा शरीर से युक्त जीवों के प्रति आध्यात्मिक-साधना के अनुकूल भाव-व्यवहार करना चाहिये अर्थात् शरीर को स्वस्थ रखते हुए आध्यात्मिक साधना तथा माता-पितादि से वात्सल्य/साम्य भाव/आत्म भाव/रखते हुए आत्म कल्याण करना चाहिये। न राग न द्वेष, न आसक्ति, न वैरत्व भाव होना चाहिये। क्योंकि यह सब भाव व्यवहार अनात्म होने से इससे कर्म बन्ध होता है जिससे संसार में परिभ्रमण करते हुए दुःख भोगना पड़ता है।

श्यामो गौरः कृशः स्थूलः काणः कुण्ठोऽबलो बली।
वनिता पुरुषः षण्ढो विरूपो रूपवानहम्।। (59) अ.श्रावकाचार

जो अपने को मैं काला हूँ, मैं गौरा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं काणा हूँ, मैं विकलाङ्ग हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं सबल हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं रूपवान हूँ।

जात देहात्म विभ्रान्तेरेषा भवति कल्पना।
विवेक पश्चतः पुंसो न पुनर्देहदेहिनोः।। (60)

इस प्रकार (उपरोक्त प्रकार से) शरीर में आत्मा की भ्रान्ति वाले जिस पुरुष की कल्पना होती है और जिसे देह और देही (जीव) का भेद दिखाई नहीं देता, उसे बहिरात्मा कहते है। किन्तु जिसे देह और देही का भेद दिखाई देता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष के उक्त प्रकार की कल्पना नहीं होती है।

शत्रु मित्र पितृ भ्रातृमातृकान्ता सुतादयः।
देह सम्बन्धतः सन्ति न जीवस्य निसर्गजाः।। (61)

देह (शरीर) का अपकार करने वाला सो शत्रु व देह का उपकार करने वाला सो मित्र और देह को उत्पन्न करने वाला सो पिता, और जहाँ देह की उत्पत्ति वहाँ ही जिसकी उत्पत्ति होती है वह भाई (सहोदर), देह को उत्पन्न करे सो माता, देह को जो रमावे सो स्त्री, देह से उत्पन्न सो पुत्र आदि सभी सम्बन्ध जीव के देह के संसर्ग से है स्वभाविक (नैसर्गिक) नहीं है।

श्वाभ्रस्तिर्यङ्नरो देवा भवामीति विकल्पना।
स्वाभ्रतिर्यङ्नृदेवाङ्ग सङ्गतो न स्वाभावतः।। (62)

मैं नारकी हूँ, मैं तिर्यञ्च हूँ, मैं मनुष्य हूँ और मैं देव हूँ, यह कल्पना नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति के शरीर के संग से होती है, स्वभाव से नहीं है।

बालकोऽहं कुमारोऽहं तरुणोऽहमहं जरी।
एता देहपरीणामजनिताः सन्ति कल्पनाः।। (63)

मैं बालक हूँ, मैं कुमार हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, ये सब कल्पनाएँ देह के परिवर्तन से उत्पन्न होती है।

विदग्धः पण्डितो मूर्खो दरिद्रः साधनोऽधनः।
कोपनोऽसूयको मूढ़ो द्विष्टस्तुष्टोऽशठः शठः।।(64)
सज्जनो दुर्जनो दीनो लुब्धो मत्तोऽपमानितः।
जात चित्तात्मसम्भ्रान्तेरेषा भवति शेमुषी।। (65)

मैं चतुर हूँ विद्वान् हूँ, मूर्ख हूँ, दरिद्र हूँ, धनिक हूँ, निर्धन हूँ, क्रोधी हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, द्वेषी हूँ, सन्तुष्ट हूँ, ज्ञानी हूँ, अज्ञानी हूँ, सज्जन हूँ, दुर्जन हूँ, दीन हूँ, लोभी हूँ, उन्मत हूँ, अपमानित हूँ, ऐसी बुद्धि रूप कल्पना चित्त में आत्मा की भ्रान्ति वाले पुरुष के होती है।

देहे यात्ममतिर्जन्तोः सा वर्द्धयति संसृतिम्।
आत्मन्यात्ममतिर्या सा सद्यो नयति निर्वृतिम्।। (66)

जीव की शरीर में जो आत्मबुद्धि होती है, वह संसार को बढ़ाती हैं। किन्तु आत्मा में जो आत्मबुद्धि होती है, वह शीघ्र ही मुक्ति को ले जाती है।

यो जागर्त्याऽऽत्मनः कार्ये कायकार्यं स मुञ्चति।
यः स्वपित्यात्मनः कार्ये कायकार्यं करोति सः।। (67)

जो पुरुष आत्मा के कार्य में जगता है, वह शरीर के कार्य को छोड़ता है। किन्तु जो आत्मा के कार्य में सोता है, वह शरीर के कार्य को करता है।

दुःखदायी संयोग सर्वथा त्यजनीय-

संयोगतो दुःखमनेकभेदं-यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो-यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्।। (28)

The self, encased in the body, undergoes various sorts of sufferings; Because of this external connection. Therefore he who desires Deliverance of the self should avoid this corporal contact through mind, speech and action.

भावार्थ-क्योंकि संसारी जीव संसार रूपी वन में संयोग कारण अनेक प्रकार के दुःख को प्राप्त करता है इसलिए आत्मा के उद्धारक, मोक्ष के इच्छुक पुरुष को इनको तीन प्रकार से छोड़ देना चाहिए।

प्राप्त शिक्षाएँ-भाव कर्म (मोह-राग-द्वेषादि) के संयोग से द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि 8 कर्म) का संयोग होता है तथा द्रव्य कर्म के कारण शरीर, माता-पितादि चेतन, धन-सम्पत्ति आदि अचेतन तथा अलंकार-वस्त्र-धनादि से युक्त पुत्रादि भाई-बन्धु आदि मिश्र परिग्रहों (संयोग) को मन-वचन-काय से अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमत के गुणन के रूप 9 कोटि/भेद से त्याग देना चाहिए। क्योंकि-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।। (45)

आचार्य श्री ने इस श्लोक में सुख का आधार तथा उसे प्राप्त करने का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित उपाय बताया है। उन्होंने यह बताया है कि दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा सुख दूसरों से प्राप्त नहीं होता है वरन् दुःख पर का स्वभाव है तथा सुख स्व-स्वभाव है। जो सुख के लिए दूसरों को/अनात्म स्वरूप को अपनाता है वह सुख के परिवर्तन में दुःखों को गले लगाता है। इसके विपरीत जो पर संयोग का त्याग करके आत्मा का ही आश्रय लेता है, आलम्बन लेता है, वह सुख को प्राप्त करता है। इसका रहस्य यह है कि शुद्ध, स्वतन्त्र आत्मा का स्वरूप ही अक्षय अनन्त सुख का स्वरूप

है तथा शरीरादि पौद्गलिक द्रव्य है, जिनमें सुख का सर्वथा अभाव है। उसका स्वीकार रूप में जो मोह, राग है वह दुःख के निमित्त है। क्योंकि उसके कारण जो कर्मबन्ध होता है उससे आत्मा परतन्त्र हो जाता है और सुखादि गुण भी दुःख रूप में परिगमन कर लेते हैं परन्तु भेद-विज्ञान तथा भेद क्रिया रूप वीतराग चारित्र से पर सम्बन्ध रूप बन्धन कट जाता है तब आत्मा के सुखादि गुण प्रकट हो जाते हैं। इसे ही स्वतन्त्रता/ निःसंगत्व/स्वाधीन कहते हैं।

अर्थात् शरीर, वैभव, सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, परिवार, शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि पर है, अनात्मा है, पर आत्मा है। अतः उनसे स्वयं को सुख प्राप्त नहीं हो सकता है, किन्तु उनके प्रति जो राग-द्वेष, ममत्व, आर्कषण-विकर्षण रूपी संक्लेश है उससे दुःख ही प्राप्त होगा, इससे भिन्न जो शुद्ध आत्मस्वरूप है वह सुखस्वरूप होने की उसकी उपलब्धि से सुख की उपलब्धि होती है, इसलिए महात्मा पुरुष स्व-आत्म-उपलब्धि अर्थात् स्व-हित के लिए पुरुषार्थ करते हैं। नारायण कृष्ण ने भी कहा है-

प्रशान्तमसं ह्येनं योगिनः सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतकल्मषम्।। (27) गीता

जिसका मन भलीभाँति शान्त हुआ है, जिसके विकार शान्त हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाय योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। (28)

आत्मा के साथ अनुसन्धान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्म प्राप्ति-रूप अनन्त सुख का अनुभव करता है।

विकल्प त्याग से परमात्म लीनता-

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं-संसारकान्तारनिपात हेतुम्।
विविक्त मात्मानमवेक्ष्यमाणो-निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे।। (29)

Liberate thyself from the trammels of doubt through which thou art lost in this world forest. Realise thyself as separate and

absorbed in contemplation of the highest self.

भावार्थ–संसार वन में पतन के हेतुभूत सम्पूर्ण विकल्प जालों को दूर करके एकमात्र आत्मा को देखते हुए तुम परमात्म तत्त्व में लीन हो जाओ।

प्राप्त शिक्षाएँ–संकल्प, विकल्प, संक्लेश से आत्मप्रदेश में कम्पन होता है, जिससे तनाव/पीड़ा होती है, पाप कर्म का आस्रव-बन्ध होता है। इसके कारण ही जीव चतुर्गति रूपी संसार में 84 लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए अनेक शरीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक दुःखों को अनुभव करता है। अतः आध्यात्मिक सुख के इच्छुक महामानव स्व-सम्बोधन/आत्म-विश्लेषण/आत्म-संशोधन को सर्वाधिक महत्व देता है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्।
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य।
येन त्यजसि झटति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। (अमृत कलश)

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन्! तत्त्व कौतूहल आदि किसी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञान घनस्वरूप आत्म-तत्त्व को मोह, माया, शोक, दुःख से मुहूर्त मात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्व-शुद्ध आत्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो, इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द ध्यान स्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्च षणमासमेकम्।
हृदय सरसि पुंसः पुद्गलदभिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः।।

हे आत्मन! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म-अनुसन्धान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्म-विश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, सवंर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-काण्ड,

व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मन्त्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन्! तुम्हारा निज आत्मा वैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-सन्त के वैभव सीमित है, क्षायोपशमिक, कर्मसापेक्ष हैं। अतएव आत्म वैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं, हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व-पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीन भाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि का उपयोग ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, संक्लेश-तनाव, ईर्ष्या-द्वेष, लन्द-फन्द में करके इह-परलोक में दुःखी मत हो। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि प्राचीन काल के तीर्थंकर, गणधर आदि चार ज्ञान एवं चौसठ ऋद्धियों के स्वामी होते हुए भी उन सबका उपयोग ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि या यहाँ तक कि उनके ऊपर उपसर्ग-परीषह करने वालों के निवारण के लिए नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से उपलब्धि का (1) सम्यक् सदुपयोग नहीं होता (2) प्राप्त उपलब्धि में मन्दता आती है (3) आत्मोत्थ अक्षय उपलब्धि में बाधा होती है।

अतः हे आत्मन्! "**वन्दे तद्गुण लब्धये**" के अनुसार तुम्हारी पञ्च परमेष्ठी में जो पूजा/भक्ति/प्रार्थना तब यथार्थ होगी जब तुम उनके गुणों को स्वीकार करोगे क्योंकि गुणानुस्मरण, गुणानुवादन तथा गुणानुकरण ही यथार्थ भक्ति है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अतः हे आत्मन्!

आदहिदं कादव्वं यदि चेत् पर हिदं कादव्वं,
आदहिदं परहिदादं आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।
उत्तमा स्वात्म चिंतास्यान्मोह चिन्ता च मध्यमा,
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिंताऽधमाधमा।।

अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्व-उपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपञ्च, ढोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

स्वकृत कर्म ही शुभाशुभ-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा-फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेणदत्तं यदि लभ्भते स्फुटं-स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।। (30)

What ever karmas you have perfomred previously, you experience theri fruits, whether good or evil. If what you experience is caused by another, then the karmas you have performed will clearly be of no effect.

भावार्थ-स्वयं के द्वारा पूर्व में उपार्जित शुभाशुभ कर्म के फल स्वरूप सुख-दुःख को जीव अनुभव करता है। यदि अन्य के द्वारा दिये गये कर्म तथा कर्मफल स्वरूप सुख-दुःख को जीव भोगता है तो स्वयं के द्वारा उपार्जित कर्म निरर्थक हो जाएगा।

प्राप्त शिक्षाएँ-''**कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि फलहुँ तस चाखा**'' के नियमानुसार प्रत्येक जीव स्व-स्व उपार्जित शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार सुख-दुःख स्वरूप फल को भोगता है। जैसा कि जो पानी को पीता है उसकी प्यास बुझती है न कि दूसरों की प्यास बुझती है; जो भोजन करता है उसकी भूख शान्त होती है, दूसरों की नहीं, जो विष पीता है उसकी मृत्यु होती है अन्य की नहीं, वैसा ही जो शुभ-अशुभ परिणाम करता है उसके अनुसार उसके आत्म प्रदेश में जो कर्म परमाणु पुण्य-पाप रूप में बन्धते हैं वे ही कर्म योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार जन्म-मरण, गति, आयु, शरीर, परिवार, भाव, व्यवहार, सहयोगी, साधन आदि की उपलब्धि होती है, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि मिलते हैं। जैसा कि द्रव्य-क्षेत्र-कालादि के निमित्त को प्राप्त करके नीम, बबूल, आम, नारियल, गेहूँ, धान, चना आदि के बीज से जो वृक्ष बनेंगे उस बीज के अनुसार ही फल-बीज उत्पन्न करेंगे, अन्य बीज के अनुसार वैसा ही कर्मानुसार ही जीवों को सुख-दुःखादि मिलता है भले बाह्य निमित्त सहयोगी बनता है न कि प्रमुख कारण।

स्व-कर्म फल चिन्तन से साम्यभाव-

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो-न कोपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः-परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।। (31)

Leaving aside the self-gathered karmas as the dweller in the body, no one gives anything to anyone. Think of this with a concentrated mind and give up the idea that their if another who gives.

भावार्थ–अपने द्वारा उपार्जित कर्म को छोड़कर कोई भी किसी भी जीव को कुछ देने में असमर्थ है। नहीं देता है ऐसा विचार कर दूसरा देता है ऐसी बुद्धि को छोड़कर एकाग्रमना हो।

प्राप्त शिक्षाएँ–जब सुनिश्चित हो जाता है कि स्वयं के सुख-दुःख के प्रमुख-मूलकारण स्व-उपार्जित कर्म ही है उस सुख-दुःख के लिए दूसरों को कारण मानकर उसके प्रति राग-द्वेषात्मक भाव के आकर्षण-विकर्षण नहीं होगा अपितु भाव स्वयं में ही केन्द्रित/स्थिर होगा। कर्म के फल स्वरूप सांसारिक दुःखों से निवृत्ति के लिए कर्मास्रव एवं बन्ध से भी दूर होकर पूर्वार्जित कर्म को नष्ट करने का प्रयत्न होगा। अतएव कर्म सिद्धान्त का परिज्ञान/चिन्तन/अनुसन्धान नित्यान्त आवश्यक है।

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदि में शूरता-क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं है, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर कर नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता है।

संसार अवस्था में विशेषतः परिणत अवस्था पर्यन्त कर्म की शक्ति जीव से अधिक प्रचण्ड रहती है। यह प्रचण्ड शक्ति केवल सामान्य जीव को कष्ट नहीं देती है किन्तु लोक के विशिष्ट चरम शरीर क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर भगवान् को भी परिणत अवस्था में वैचित्र्य पूर्ण कष्ट देती है। इस प्रचण्ड शक्ति का वर्णन आलंकारिक छटा से गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में करते हैं-

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलित करः कियर इव।
स्वयं सृष्टा-सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षणमासान् स किल पुरूरप्याट जगती-

महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः।। 119।।

जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाला था, अर्थात् जिसने कर्म भूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों में अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवर्ती) था, वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमा, यह आश्चर्य की बात है। ठीक है-इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है।

आप यह पाएँगे कि पीड़ा के भय से बचने पर आधारित आपका किसी भी तरह का व्यवहार स्वयं इस पीड़ा का द्वार बन जाता है। अगर आपको किसी के द्वारा अस्वीकार किए जाने से डर लगता है और आप उस व्यक्ति की स्वीकृति पाने के इरादे से उसके पास जाते हैं तो आप बहुत बड़ा खतरा ले रहे है। अगर उस व्यक्ति ने आपको एक बार टेढ़ी नज़र से देख लिया या कुछ गलत बात कह दी तो आपको अस्वीकृति का दर्द महसूस होने लगेगा। मुद्दे की बात यह है कि चूंकि आप उस व्यक्ति के पास अस्वीकृति का भाव लेकर गए थे, इसलिए आप उससे बात करते हुए पूरा समय अस्वीकृति की धार पर चलते रहेंगे। किसी न किसी तरह, जो भाव आपको महसूस होते हैं, उनका आपके कार्यों के उद्देश्य पर असर ज़रूर पडेगा। पीड़ा से बचने का भाव आपके कार्यों से जुड़ा होता है आपको यह जुड़ाव अपने हृदय में महसूस होगा।

पीड़ा हृदय में पैदा होती है। इसीलिए दिनभर में आपको इतनी बार परेशानी महसूस होती है। यह पीड़ा आपके हृदय में बहुत गहराई में दबी रहती है। आपका व्यक्तित्व और व्यवहार इस पीड़ा से बचते रहते है। इससे बचने के लिए आप अपने वज़न का ध्यान रखते हैं, कुछ खा़स किस्म के कपड़े पहनते है, किसी विशेष अंदाज़ में बात करते हैं और कुछ विशेष ढंग से बाल काढ़ते है। आपका हर काम इस पीड़ा से बचने के लिए किया जाता है। अगर आप इस बात की पुष्टि करना चाहते हैः आपको पीड़ा होती है। आप इस पीड़ा से बचने के लिए जो भी काम करते है, यह काम एक ऐसी कड़ी बन जाता है जिसमें उस पीड़ा से बचने की संभावना छिपी रहती

है।

अगर आप हृदय के मूल में छिपे इस दर्द को ठीक नहीं करना चाहते तो इससे बचने के लिए आपने जो कुछ किया, वह कारगर साबित हुआ होता। अगर आप व्यस्त सामाजिक जीवन की आड़ में छिपने की कोशिश कर रहे हैं तो किसी के भी द्वारा आपके आत्म-सम्मान को चुनौती देने वाला कोई भी काम, जैसे कि आपको किसी कार्यक्रम में आमंत्रित न करना, आपके लिए पीड़ादायक हो सकता है। मान लीजिए आप अपने किसी मित्र को फ़िल्म देखने के लिए बुलाते है और वह कहता है कि उसके पास फ़ुर्सत नहीं है तो कुछ लोगों को बुरा लग सकता है। अगर अपने भित्र को बुलाने का कारण किसी पीड़ा से बचना था, तो आपको ऐसे में पीड़ा अनुभव होगी। मान लिजिए आप बाहर जाकर अपने कुत्ते को पुकारते हैं, ''अरे स्पॉट, यहाँ आओ!'' और वह आपके बुलाने से नहीं आता। अगर आपने स्पॉट को खाना खिलाने के लिए बुलाया था तो आप उसके खाने का कटोरा वहीं नीचे छोड़ देंगे ताकि वह इच्छा होने पर खा सके। परंतु अगर आपने स्पॉट को इसलिए बुलाया था कि आपका दिन अच्छा नहीं बीता, तो उसके नहीं आने से आपको पीड़ा होगी। आप सोचने लगेंगे, ''मेरा कुत्ता भी मुझे पंसद नहीं करता।'' कुत्ते के नहीं आने से हृदय से इतना दर्द क्यों होता है? अगर आपका मित्र आपके साथ फ़िल्म देखने न जाकर किसी और जगह जा रहा है तो इतना बुरा क्यों लगता है? यह पीड़ा कैसे पैदा होती है? इसका कारण यह है कि आपके भीतर पहले से पीड़ा दबी हुई है जो निकली नहीं है। इस पीड़ा से बचने के लिए आपके प्रयास ने संवेदनाओं की परतें जमा कर दी हैं जो दबी हुई पीड़ा से जुड़ी हुई हैं।

आइए, अब यह जानते हैं कि ये पर्तें किस तरह जमा होती है। अस्वीकृति के दर्द से बचने के लिए आप दोस्ती क़ायम रखने के कठिन प्रयास करते हैं। चूंकि आपने देख लिया है कि दोस्तो के हाथों भी अस्वीकार होना संभव है, आप इससे बचने की और अधिक कोशिशें करते हैं। इसमें सफल होने के लिए यह ज़रूरी है आप जो भी करें दूसरे उसे स्वीकार करें। यही बात आपके व्यवहार और आपके कपड़ों को तय करती है। देखिए, अब आपका ध्यान सीधे तौर पर अस्वीकृति पर नहीं है। अब आपका ध्यान इस बात पर है कि आप कैसे चलते हैं, क्या पहनते हैं

और कौन सी गाड़ी चलाते हैं। आप मूल पीड़ा से एक पर्त और आगे चले गए हैं। अगर कोई आपके पास आकर कहता है, ''अरे वाह, मुझे लगता है कि आपके पास इससे बेहतर गाड़ी होनी चाहिए।'' तो आप बेचैन हो जाते हैं। इस बात से पीड़ा क्यों होती है? आपको स्वयं से पूछना चाहिए कि वह क्या बात है जिसने हृदय को बैचेन किया है। वह कौन-सा भाव है? ऐसा क्यों हो रहा है? सामान्य तौर पर, लोग नहीं पूछते कि ऐसा क्यों हो रहा है; वे सिर्फ ऐसा होने से बचते रहते हैं।

आपको इस बात की तह में जाना होगा और उन पर्तों के विज्ञान को समझना होगा। हृदय के मूल में पीड़ा मौजूद है। इस दर्द से बचने के लिए आप दोस्तों के बीच व्यस्त रहने की कोशिश करते हैं और उनकी स्वीकृति के पीछे छिपकर बैठे रहते हैं। यह पहली पर्त है। इसके बाद, उस स्वीकृति को बनाए रखने के लिए, आप स्वयं को एक विशिष्ट रूप में ढालते हैं, ताकि आप अपने दोस्त बना सकें और लोगों को प्रभावित करते रहे। अगर स्वयं को साबित करने के पीछे प्रमुख कारण वह पीड़ा न होती, तो दूसरों लोगों की बातों का आपके ऊपर असर नहीं होता। परंतु चूंकि उस दर्द से बचने के लिए आप स्वयं को साबित करना चाहते है, आपके प्रत्येक कार्य में उस पीड़ा की संभावना उभर आती है। आप इतने संवेदनशील हो जाते हैं कि बिना आहत हुए इस संसार में रहना आपके लिए असंभव हो जाता है। आप जब भी लोगों से बात करते हैं या कोई भी सामान्य कार्य करते हैं तो ये सब चीज़े आपके हृदय को प्रभावित करती हैं। अगर आप ध्यान दें तो पता लगेगा कि बहुत सामान्य बातचीत भी थोड़ी-बहुत पीड़ा, असुरक्षा या परेशानी का कारण बन जाती है।

इससे थोड़ी दूरी बनाने के लिए, आपको कुछ समझने की ज़रूरत है। किसी दिन रात को जब मौसम साफ हो तो बाहर निकलिए और ऊपर आकाश की ओर देखिए। आप बिलकुल ख़ाली जगह के बीच में घूमते हुए एक ग्रह पर बैठे है। हालाकिं आप कुछ ह़जार तारों को ही देख पाते है, सिर्फ़ हमारी आकाशगंगा में सैकड़ों अरब तारे हैं। वास्तव में, ऐसा अनुमान है कि स्पाइरल गैलेक्सी में दस खरब से अधिक तारे मौजूद हैं और अगर हम देख पाएँ तो वह गैलेक्सी ही हमें एक तारे जैसी दिखाई देगी। आप धूल के एक कण पर बैठे एक तारे के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। इस नज़र से,

क्या आपको सचमुच इस बात की चिंता करनी चाहिए लोग आपको कपड़ों और गाड़ी के बारे में क्या सोचते है? अगर आप किसी का नाम भूल जाएँ तो क्या सचमुच इसमें शर्मिंदा होने की बात है? आप इन निरर्थक बातों से स्वयं को पीड़ा कैसे होने दे सकते हैं? अगर आप इसमें से निकलना चाहते हैं कि और अच्छा जीवन जीना चाहते हैं तो आपको मानसिक पीड़ा से बचने का प्रयास करना छोड़ देना चाहिए। आपको इस बात में अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए कि लोग आपको पसंद करते हैं या नहीं अथवा आपकी गाड़ी किसी को प्रभावित करती है या नहीं। यह किस तरह का जीवन है? यह पीड़ा से भरी ज़िंदगी है। आपको शायद लगता है कि आपको बहुत बार पीड़ा महसूस होती है लेकिन ऐसा ही होता है। पीड़ा से बचते हुए जीवन बिताने का अर्थ है कि वह हर पल आपके पीछे खड़ा रहता है। किसी भी क्षण आप भूल कर सकते है और कुछ ग़लत बात बोल सकते हैं। इस तरह आपकी पूरी ज़िंदगी पीड़ा से बचते हुए बीत जाती है।

आप अपने भीतर देखकर जब इस बात को स्वीकार कर लेते हैं तो आप पाएँगे कि आप उन्हीं दो मूलभूत विकल्पों तक पहुँच जाते हैं। एक विकल्प यह है कि पीड़ा को भीतर ही रहने दिया जाए और बाहरी दुनिया से संघर्ष किया जाए। दूसरा विकल्प यह है कि आप अपनी ज़िंदगी इस अदंरूनी पीड़ा के साथ नहीं गुज़ारना चाहते बल्कि आप इससे मुक्त होना चाहते हैं। बहुत कम लोग इस प्रकिया को इस तरह अंतर्मुखी बना पाते हैं। अधिकतर लोगों को तो इस बात का पता ही नहीं होता कि उनके भीतर पीड़ा की ऐसी अनेक गाँठे है जिन्हें खोलने की ज़रूरत है। क्या आप इसे भीतर रखकर इससे बचने के लिए बाहरी दुनिया के साथ संघर्ष करना चाहते है? आपका जीवन कैसा होगा अगर उसपर पीड़ा का नियंत्रण न हो? आप मुक्त हो जाएँगे। आप इस संसार में पूरी तरह आज़ाद होकर घूम सकते हैं और किसी भी चीज़ के साथ सहज रहकर जीवन का आनंद ले सकते है। सरल शब्दों में, आप अपना जीवन अपने ढ़ंग से जीते हुए अंत समय तक आकाश के मध्य में घूमते एक ग्रह पर रहने का अनुभव ले सकते हैं।

आज़ादी के इस स्तर पर जीने के लिए, आपको अपने भीतर दर्द और परेशानी

से भयभीत होना छोड़ना होगा। जब तक आप इस पीड़ा से डरते रहेंगे, आप इससे बचने की कोशिश करते रहेंगे। भय आपसे ऐसा करवाएगा। अगर आप मुक्त होना चाहते है तो इस अदंरूनी पीड़ा को सिर्फ़ अपनी ऊर्जा के प्रवाह में आए एक बदलाव की तरह देखिए। इस अनुभव से डरने की ज़रूरत नहीं है। आपको अस्वीकृति से डरने या बीमारी अथवा किसी की मृत्यु या कुछ ग़लत होने पर कैसा लगेगा, यह सोचने की आवश्यकता भी नहीं है। जो चीज़े गलत हो सकती। क्या आपको कोई अंदाज़ा है कि कितनी चीज़े है जिनमें अंदरूनी पीड़ा और परेशानी हो सकती है? शायद आकाश में जितने तारे हैं, उससे भी अधिक। यदि आप अपने विकास तथा जीवन के अन्वेषण हेतु मुक्त होना चाहते है तो आप मस्तिष्क या हृदय को चोट पहँचाने वाली असंख्य चीज़ों से बचते हुए अपना जीवन बिता सकते।

आपको भीतर देखना और तय करना होगा कि अब पीड़ा कोई समस्या नहीं है। यह भी इस संसार की एक चीज़ है। कोई आपसे कुछ ऐसी बात कह सकता है जिससे आपको बुरा लगे या आपका मन दुखित हो, लेकिन वह बात भी जाती है। यह एक अस्थायी अनुभव है। अधिकतर लोग इस बात की कल्पना नहीं कर पाते कि भीतरी परेशानी के साथ शांतिपूर्वक रहना कैसा लगता है। लेकिन अगर आप प्रयास में बीत जाएगा। अगर आपको असुरक्षा महसूस होती है तो यह भी एक भाव है। इस संसार का एक हिस्सा है। अगर ईर्ष्या होती है और आपके हृदय में जलन होती है तो इसे सहज भाव से देखिए जैसे आप किसी घाव को देखते है यह संसार की एक वस्तु है जो आपके शरीर से होकर गुज़र रही है। इस पर हँसिए, इसके साथ मज़ाक कीजिए लेकिन इससे डरिए मत। जब तक आप इसे नहीं छुएँगे, यह आपको नहीं छू सकती।

इसे जानने के लिए पहले एक मूलभूत मानव आदत को देखते हैं। जब कोई पीड़ाकारक वस्तु आपको छूती है तो तुरंत उससे दूर हो जाते है। दुर्गंध और बुरे स्वाद के साथ भी आप ऐसा ही करते हैं। सच यह है कि आपका मन भी यही करता है। अगर कोई परेशान करने वाली बात इसका स्पर्श करती है तो इसका स्वभाव है कि यह पीछे हो जाता है और स्वयं को बचाने की कोशिश करता है। असुरक्षा, ईर्ष्या या

कोई भी ऐसा भाव जिसके बारें में हमने पहले भी चर्चा की है, के साथ वह ऐसा करता है। कुल मिलाकर, आप स्वयं को ''बंद''कर लेते हैं जो आपके ऊर्जा प्रवाह के आस-पास एक कवच बनाने का प्रयास करने जैसा है। इसके प्रभाव को आप अपने हृदय में होने वाले कंपन के रूप में महसूस कर सकते हैं। कोई आपको कुछ बुरा कह देता है तो आपको अपने हृदय में बेचैनी होने लगती है।

आप आत्मा के भीतर जितने केंद्रित रहेंगे, आपको उतनी ही अधिक ऊर्जा अपने भीतर महसूस होगी जैसे पहले कभी नहीं हुई। यह ऊर्जा सामने से, जहाँ से आप अपने मस्तिष्क और भावनाओं का अनुभव करते हैं, न आकर बल्कि आपके पीछे से आती है। जब आप दिमागी नाटक में न डूबकर चेतना के केंद्र में स्थित होंगे, तो अपने अंतर से आपको इस ऊर्जा का प्रवाह महसूस होगा। इस प्रवाह को शक्ति कहा जाता है। इस प्रवाह को आत्मा भी कहते हैं। यह आपको तब अनुभव होगा जब आप अपनी भीतरी परेशानियों पर ध्यान न देकर आत्मा के साथ समय बिताएँगे। आपको अपना अकेलापन दूर नहीं करना है; सिर्फ़ उसके साथ खुद नहीं जुड़ना है। यह संसार की अन्य वस्तुओं जैसे गाड़ियाँ, घास और तारों की तरह ही एक वस्तु है। आपका इससे कोई संबंध नहीं है। चीज़ों को छोड़ते चलिए। आत्मा यही करती है। जागरूकता संघर्ष नहीं करती; जागरूकता मुक्त करती है। जागरूकता अपने सामने से गुज़रने वाली प्रत्येक चीज़ के प्रति सिर्फ़ जागरूक रहती है।

जब आप अपने भीतर केंद्रित हो जाते हैं तो हृदय कमज़ोर होने के बावजूद आपको अपनी भीतरी शक्ति का एहसास होता है। इस पथ का यही सार है। आध्यात्मिक जीवन का यही सार है। एक बार आपको यह समझ में आ जाए कि अपने भीतर परेशानियों का अनुभव करना सामान्य बात है और यह कि इससे आपकी चेतना के केंद्र में हलचल नहीं होगी तो आप आज़ाद हो जाएँगे। आप अपने पीछे से आने वाली भीतरी ऊर्जा से सहारा लेना आरंभ कर सकेंगे। भीतरी प्रवाह के इस परमानंद का स्वाद चख लेने के बाद, आप इस संसार में आराम से रह सकते हैं और यह संसार आपको छू भी नहीं सकेगा। यही तरीका है जिससे आप मुक्त हो जाते हैं- आप ऊपर उठ जाते हैं। **(अनन्त चेतना की खोज में)**

आत्मानुशासन हेतु परतंत्रता त्यागूँ

-आचार्य कनकनन्दी

(शुद्ध-बुद्ध-आनन्द-स्वतंत्र हेतु)

(चाल: आओ धीरे-धीरे चेतन....)

आओ! धीरे-धीरे चेतन निर्बन्ध भाव में,
निर्बन्ध भाव में...विशुद्ध भाव में...ऽऽऽ (ध्रुव)
निर्बन्ध होने हेतु (तुम्हें) त्यागना होगा, क्रोध-मान-माया तथा लोभ।
अन्धविश्वास सभी त्यागना होगा, धार्मिक से ले सभी सामाजिक।। आओ धीरे (1)
इससे होगा तुझे (सही) आत्मविश्वास, निश्चय से मैं हूँ चैतन्य द्रव्य।
मुझ में अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, बन्धन से बना हूँ अशुद्ध जीव।। आओ (2)
इससे ही तुझे होगा सम्यक्ज्ञान, बन्धन मुक्त हेतु होगा सही आचरण।
समस्त बन्धनों को करोगे नाश, तब बनोगे निर्बन्ध-शुद्ध।। आओ...(3)
हास्य-रति-अरति से बनोगे मुक्त, शोक-भय-जुगुप्सा से बनोंगे मुक्त।
स्त्रीपुन्नंपुसकवेद से होगे मुक्त, तब ही सब बनोंगे विमुक्त।। आओ...(4)
हिंसा-झूठ-चोरी तथा कुशील, परिग्रह रूपी बन्ध होगा निःशेष।
सप्त व्यसन तथाहि सप्त भी मद, नाश हो जायेंगे सभी द्वन्द्व।। आओ...(5)
शरीर-मन से भी हो जाओगे मुक्त, पांचो इन्द्रियों का भी होगा विनाश
जन्म-मरण से भी होगा मुक्त, आधि-व्याधि-उपाधि होंगे नाश।। आओ...(6)
शत्रु-मित्र-भाई-बन्धु से भी मुक्त, अपना-पराया न होगा शेष।
दीन-हीन-अहंकार होंगे नाश, ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा से होंगे मुक्त।। आओ...(7)
संकल्प-विकल्पों से होंगे मुक्त, आकर्षण-विकर्षण होंगे नाश।
संक्लेश-द्वन्द्व तेरे होंगे नाश, हानि-लाभ से तू होगा मुक्त।। आओ...(8)
अपेक्षा-उपेक्षा तेरी नश जायेंगी, प्रतीक्षा रूपी बेडी कट जायेगी।
मान-अपमान से मुक्त हो जाओगे, पूजा-प्रसिद्धि से छूट जाओगे।। आओ...(9)
तब ही तुम शुद्ध-बुद्ध बनोगे, अनन्त निराबाध सुख भोगोगे।
तब ही तेरा सर्वोदय पूर्ण होगा, 'कनक' तब ही मेरा आत्मानुशासन होगा। आओ...(10)

सागवाडा 24/05/2018 रात्रि 09:20

सन्दर्भ-

रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं है

असमग्रं भावतयो, रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न बंधनोपायः।। 211।। पुरु.

Even when Ratna Traya is partially followed, whatever bondage of Karma there is, due to its Antithesis (the passion) because Ratna-Traya is assuredly the way to liberation, and can never be the cause of bondage.

व्याख्या-भावानुवाद : अपरिपूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना/परिपालन से जो कर्मबंध होता है वह कर्मबंध रत्नत्रय से न होकर उसके विपक्षभूत राग द्वेष से होता है। अपरिपूर्ण रत्नत्रय से कर्मबंध होता है। जितने अंश में रत्नत्रय है उतने अंश में कर्मबंध नहीं होता है और उतने अंश मोक्ष के उपाय हैं। जितने अंश में रत्नत्रय का अभाव है और राग-द्वेष का सद्भाव है उतने अंश में कर्मबंध होता है जो मोक्ष के लिए कारण नहीं है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं है असर्वदेशों रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण होता है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिए कारण नहीं होता है।

रत्नत्रय और राग का फल

येनांऽशेन सुदृष्टिस्तेनाऽशेनाऽस्य बंधनं नाऽस्ति।
येनांऽशेन तु राग स्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।।212।।
येनांऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं नास्ति।
येनाऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।।213।।
येनांऽशेन चारित्रं, तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनाऽशेन तु राग स्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।214।।

(In every thought activity) there is no bondage so far as there is right belief; there is bondage so far as there is passion. (In every thought activity) there is no bondage so far as there is knowledge;

there is bondage so far as there is passion. (In every thought activity) there is no bondage so far there is conduct; there is bondage so far as there is passion.

व्याख्या-भावानुवाद : जिस अंश से सुदृष्टि होता है उस अंश से सम्यक् दर्शन होता है। उस सुदृष्टि रूप अंश से उस सम्यक्त्व का कर्मबन्ध नहीं होता है। किन्तु जिस अंश से उस सम्यक् दृष्टि में भी राग होता है उस अंश से उस सम्यक् दृष्टि को भी कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से ज्ञान होता है उस अंश से कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस ज्ञानी को कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से चारित्र होता है उस चारित्र अंश से कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस चारित्र या चारित्रधारी को कर्मबन्ध होता है।

इसका भावार्थ यह है कि सराग रत्नत्रय में बन्ध होता है। वीतराग रत्नत्रय में बन्ध नहीं होता है।

समीक्षा : जैसे-जिस अंश में प्रकाश होता है उस अंश में अन्धकार नहीं होता है तथा जिस अंश में अंधकार होता है उस अंश में प्रकाश नहीं होता है। प्रकाश जितने-जितने अंश में बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में अन्धकार भी घटता जाता है। जितने-जितने अंश में अन्धकार बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में प्रकाश घटता जाता है। इसी प्रकार जितने-जितने अंश में रत्नत्रयात्मक स्वभाव आत्मा में प्रकट होता है उतने-उतने अंश में वैभाविक भावरूपी कर्मबन्ध घटता जाता है। आचार्य उमास्वामी ने पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से इसी विषय को निम्न प्रकार से कहा है -

सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।।

सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत अनन्तानुबन्धितविसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षमक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती तब तक आस्रव और

बंध की परम्परा चलती रहती है। यह बंध की परम्परा मिथ्यादृष्टि की अनादि से हैं। उसकी जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि केवल आस्रव और बंध तत्त्व का कर्त्ता है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव ज्ञान एवं दर्शन में परिवर्तन हो जाता है। जिस अंश में दर्शन-ज्ञान चारित्र में सम्यक् भाव है उतने अंश में संवर, निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र आत्मा का स्वभाव है।

पात्र की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा और उसके द्रव्य प्रमाण और काल प्रमाण का वर्णन गोम्मटसार में निम्न प्रकार किया है :-

सम्मत्तुप्पत्तीये-सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते।।66।।
खवगे या खीणमोहे-जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति।।67।।

सम्यक्त्वोपत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाला 8-9-10 वें गुणस्थानवासी जीव, क्षीण मोह, संयोगी केवली और अयोगी केवली दोनों प्रकार के जिन इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी अधिक होती जाती है। और उसका काल इसके विपरीत है अर्थात् क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है।

1. सम्यग्दृष्टि (अविरत) : जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे-ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है या विष मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एक देश वेग कम होने पर चेतना आती हैं अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियों में बार-बार जन्म-मरण परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। कभी मुनिराज कथित जिन धर्म को सुनता है तथा कदाचित प्रतिबन्धी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है जैसे कतक फल के सम्पर्क से जल का कीचड़ बैठ जाता है और जल निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार

मिथ्या उपदेश से अति मलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रथम सम्यक्त्वादि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसों स्थान क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा वाले हैं। सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करण लब्धि को प्राप्त करके उसके अधः प्रवृत्त करण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्व दशा में होने वाली या पाई जाने वाली निर्जरा से असंख्यात गुणा अधिक हुआ करती है।

यह कथन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड की अपेक्षा से है। इसी से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा होती है उस निर्जरा को यहाँ पर ईकाई रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र की अपेक्षा निर्जरा के स्थान दस हैं और गोम्मट्टसार की अपेक्षा निज्ररा के स्थान ग्यारह है परन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में जो अन्तिम स्थान 'जिन है उसे सयोगी जिन रूप में विभक्त करने से तत्त्वार्थसूत्र में भी ग्यारह स्थान हो जाते हैं।'

श्रावक (पञ्चम गुणस्थान) अवस्था प्राप्त होने पर कर्मों की निर्जरा होती है वह असंयत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यातगुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जरा का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन-हीन होता गया है अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है उसके संख्यात गुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा रहता है। इसी प्रकार आगे के विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन-हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है। उन

स्थानों में गुण श्रेणी निर्जरा कही जाती है।

बंध का कारण

योगात्प्रदेश-बंधः स्थिति-बंधो भवति तु कषायात्।
दर्शन बोध-चारित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च।।215।।
"प्रकृतिः परिणामः स्यात्, स्थितिः कालाऽवधारणम्।"
अनुभागो रसोज्ञेयो, प्रदेशा दल-संचयः।

Pradesha Bandha, bondage of karmic molecules is due to soul's vibratory activity, and sthiti Bandha, duration bondage, is due to passions. But Right belief, knowledge and conduct have neither the nature of vibrations nor of passions.

व्याख्या-भावानुवाद : मन-वचन-काय योग से प्रदेश बंध होता है। क्रोधादि कषाय से स्थितिबंध होता है। योग से प्रकृति, प्रदेश बंध जीव करता है। स्थिति अनुभाग बंध कषाय से जीव करता है। कहा भी है -

परिणाम अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। स्थिति, काल की अवधारणा को अर्थात् मर्यादा को स्थिति कहते हैं। फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणु समूह के संचय को प्रदेश कहते हैं।

योग तथा कषायों के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट भेद से बंध से भी विचित्रता जाननी चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र ना योग रूप है ना कषाय रूप है। योग तथा कषाय स्वरूप भिन्न हैं तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप भिन्न है। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में योग तथा कषाय नहीं होता है इसलिए रत्नत्रय से कर्मबंध नहीं होता।

सदंर्भ-

BONDAGE OF KARMA

बंध के कारण

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। (1) मोक्षशा.

Wrong belief, non abstinece, negligence, passions and activities are the cause of bondage.

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत सप्त तत्त्व में से पहले जीव-अजीव, आस्रव का वर्णन पहले अध्याय से लेकर सप्तम् अध्याय तक किया गया है। क्रम प्राप्त बंध तत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। सप्तम अध्याय में वर्णित कर्म परमाणुओं का आस्रव के बाद जीव के साथ कर्म परमाणुओं का जो संश्लेष सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। इसलिये बन्ध चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव कर्मपरमाणु) द्रव्यों का परिणाम, परिणमन पर्याय या अवस्था विशेष है। मुख्यतः ये बंध दो प्रकार के है-(1) भावबंध (2) द्रव्यबंध। भावबंध पूर्वक ही द्रव्यबंध होता है। इसलिए भावबंध का वर्णन इस सूत्र में किया है। वह भावबंध नो कर्मबंध, कर्मबंध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नो कर्मबंध है। जो कर्मबंध है वह कर्मबंध अभव्य की अपेक्षा संतति परम्परा से अनादि अनंत है और भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है। भव्य अपेक्षा भी जब तक भव्य मोक्ष नहीं जाता है तब तक उसकी कर्मबंध की परम्परा अनादि से है।

बंध प्रकरण में कर्मबंध का वर्णन नहीं करके बंध के हेतुओं का वर्णन पहले किया गया है क्योंकि कारण पूर्वक कार्य होता है। यदि बंध बिना हेतुओं से होता है तब मोक्ष भी कभी नहीं हो सकता है। इसलिये सर्वप्रथम उन्हीं हेतुओं का वर्णन किया जायेगा।

बंध का कारण सामान्य रूप से उपयोग एवं योग है। यहाँ उपयोग का वैभाविक परिणमन है, जीव सब स्वस्वभाव को छोड़कर वैभाविक रूप में परिणमन करता रहता है तब विभिन्न कर्म को बाँधता है। मध्य प्रतिपत्ति से बंध के 5 कारण बताये गये हैं। यथा-(1) मिथ्यादर्शन (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) योग।

''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'' अर्थात् तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन इससे विपरीत है। अर्थात् ''अतत्त्वार्थ श्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्'' अतत्त्वों का श्रद्धान करना या तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। बंध प्रकरण में बंधों के कारण बतलाते हुए मिथ्यादर्शन को पहले ग्रहण करने का कारण

यह है कि मिथ्यादर्शन समस्त बंध कारणों में से प्रधान एवं प्रथम कारण है। मिथ्यात्व को आगम शास्त्र में अनंत संसार का कारण होने से अनंत कहा गया है और उसके साथ रहने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को अनंतानुबंधी कहा गया है। अनादि मिथ्यादृष्टि जब एक बार भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब उसका अनंत संसार का विच्छेद हो जाता है केवल अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है यदि वह चरम शरीरी है तो तद्भव में मोक्ष जा सकता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है-

न सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।। (34) र.श्रा.

प्राणियों के तीन कालों और तीन लोक में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याण रूप और मिथ्यादर्शन के समान अकल्याण रूप अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद अनेक पाप प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यथा-

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका।। (35)

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने का तथा नीच कुल, विकलांग अवस्था, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।

मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में 16 पाप प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है यथा-

मिच्छत्तंहुसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।
सहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छं।। (95) (गो.सा. कर्म)

1. मिथ्यात्व 2. हुण्डक संस्थान 3. नपुंसकवेद 4. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन 5. एकेन्द्रिय जाति 6. स्थावर 7. आतप 8. सूक्ष्मादि तीन अर्थात् सूक्ष्म 9. अपर्याप्त 10. साधारण, विकलेन्द्रिय तीन अर्थात् 11. दो इन्द्रिय 12. तीन इन्द्रिय 13. चौ इन्द्रिय 14. नरक गति 15. नरकगत्यानुपूर्वी 16. नरकायु। ये सोलह प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व से आगे के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता।

तत्त्वार्थसार में बंध का विशेष वर्णन निम्र प्रकार किया है-

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयम।

प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः।। (2) अध्याय 5

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के पाँच हेतु जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये हैं।

मिथ्यात्व के पाँच भेद

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च।

आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्।। (3)

ऐकान्तिक, सांशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं।

1. ऐकान्तिकमिथ्यात्व का लक्षण

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः।

इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते।। (4)

जिसमें धर्म और धर्मी के विषय में ''यह ऐसा ही है'' इस प्रकार का एकांत अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

2. साशंयिकमिथ्यात्व का लक्षण

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः।

इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत्।। (5)

'जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नहीं' इस प्रकार की जिसमें बुद्धि का भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है।

3. विपरीत मिथ्यात्व का लक्षण

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रंथो ग्रासाहारी च केवली।

रूचिरेवंविद्या यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्।। (6)

परिग्रह सहित भी गुरु होता है और केवली कवलाहारी होता है इस प्रकार की जिसमें श्रद्धा होती है वह विपरीत मिथ्यात्व है।

4. आज्ञानिकमिथ्यात्व का लक्षण

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्।

यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते।। (7)

जिसमें हित और अहित के विवेक का अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है।

5. वैनयिकमिथ्यात्व का लक्षण

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनियकं हि तत्।। (8)

जिसमें सभी देवों और सभी धर्मों को समान देखा जाता है उसे वैनयिकमिथ्यात्व जानना चाहिए।

बारह प्रकार का असंयम

षड्जीवकायपञ्चक्षमनोविषयभेदतः।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः।। (9)

छह काय के जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मन सम्बन्धी विषय के भेद से सर्वज्ञ भगवान् ने बारह प्रकार का असंयम कहा है।

पृथ्वीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों में प्रवृत्ति करना इस तरह बारह प्रकार का असंयम होता है।

प्रमाद का लक्षण

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः।। (10)

आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त धर्म के विषम में जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्रमाद कहा गया है।

भाव, काय, विनय, ईर्यापक्ष, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन और वाक्य के भेद से शुद्धि के आठ भेद है तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रहाचर्य के भेद से धर्म के दश भेद हैं। इन आठ प्रकार की शुद्धियों तथा दश प्रकार के धर्मों में उत्साह न होना प्रमाद कहलाता है।

पच्चीस कषाय

षोड्शैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविशंतिः।। (11)

सोलह कषाय और नो कषाय कही गई है। इनमें जो थोड़ा भेद है वह नहीं लिया जाता है इसलिए दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है।

पन्द्रह योग

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः।। (12)

चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं।

इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचो मिलकर या पृथक्-पृथक् बंध के हेतु हैं। खुलासा इस प्रकार है-मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बंध के हेतु हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि के आदि के चार बंध के हेतु हैं। संयतासयंत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं। प्रमत्त संयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बंध के हेतु हैं। अप्रमत्त संयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बंध के हेतु हैं। उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और संयोग केवली इनके एक योग ही बंध का हेतु हैं। अयोग केवली के बंध का हेतु नहीं है।

बंध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्‌गलानादत्ते स बन्धः। (2)

The soul owing to its being with passion, assimulates matter which is fit to form karmas. This is बंध bondage.

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध है।

जीव के साथ कर्मबंध होने के लिये पुद्गलों के बंध योग्य गुणों के साथ-साथ जीव में भी होने योग्य गुणों की आवश्कता अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य उपादान कारण (अंतरंग कारण, मुख्य कारण) निमित्त कारण (बहिरंग कारण-गौण कारण) के समवाय से ही होता है। अतः कर्म वर्गणा में स्निग्धत्व-रूक्षत्व गुण होने पर भी जीव में स्निग्धत्व (राग आकर्षण-धन आवेश) रूक्षत्व (द्वेष-विकर्षण ऋण आवेश) गुण नहीं होने पर जीव के साथ कर्मबंध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो कार्य जितने कारणों से सम्पादन होता है उसके एक भी कारण के अभाव में वह कार्य नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होवे तो संपूर्ण कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान् को भी कर्मबंध होने लगेगा और वे संसारी हो जायेंगे। इतना ही नहीं अमूर्तिक शुद्ध आकाश, धर्म, अधर्म, एवम् काल को भी कर्मबंध होने लगेगा और वह भी अशुद्ध होकर संसारी हो जावेगा। परन्तु यह होना कष्ट साध्य नहीं अपितु असंभव ही है।

चुम्बक अपने चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित लोह खण्ड को आकर्षित करता है परन्तु उस क्षेत्र में स्थित पत्थर लकड़ी आदि को आकर्षित नहीं करता है। इससे सिद्ध होता है कि चुम्बक में आकर्षण करने की शक्ति है तथा लोहे में आकर्षित होकर आने की शक्ति है। उपरोक्त दोनों शक्तियों में से एक भी शक्ति के अभाव में परस्पर में आकर्षण एवम् आकर्षित नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पुद्गल वर्गणा में बंधने की शक्ति होने पर भी संसारी जीव में बाँधने की शक्ति नहीं हो तो कर्मबंध नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि, अनादि काल से जीव कर्मबंध से सहित होने के कारण मूर्तिक एवम् राग-द्वेष से सहित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार में निम्न प्रकार किया है।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धातं चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में कहा है-

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्ताय सपिंडओव्व जलं।। (3)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नानकर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्म वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार

शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियक (3) आहारक (4) तैजस; रूप होने वाली नो कर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण करता है, जैसा कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।

कम्मादपदेसाणं अण्णोणपवेसणम् इदरो।। (32) द्रव्यसंग्रह

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह तो भावबंध है, और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बंध है।

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।

पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो। (175) प्रवचनसार

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं, और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।

पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठति हि जतिं बज्झंति।। (गा. 178 प्र.सा.)

वह आत्मा सप्रदेशी है उन प्रदेशों में पुद्‌गल समूह प्रवेश करते हैं यथायोग्य रहते हैं निकलते हैं और बंधते हैं।

मन, वचन, काय वर्गणा में आलम्बन से और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा के प्रदेशों में सकम्पना (परिस्पन्दन) होता है उसको योग कहते है। उस योग के अनुसार, कर्म वर्गणा योग्य पुद्‌गल कर्म आस्त्रव रूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदय काल को पाकर फल देकर खिर जाते है तथा केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्रगटता रूप मोक्ष से प्रतिकूल बंध के कारण रागादिकों का निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबंध रूप में बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया है कि, रागादि परिणाम ही द्रव्य बंध का कारण है अथवा इस गाथा से दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि 'सविशन्ति' शब्द से प्रदेश बंध 'निष्ठन्ति' से स्थिति, बंध ''जाति'' से फल देकर जाते हुए अनुभाग बंध और ''बद्धयंते'' से प्रकृतिबंध ऐसे चार प्रकार बंध को समझना।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादिहिं।

अण्णोण्णमवगाहो पुग्गल जीवप्पगो भणिदो।। (177)

स्पर्शों के साथ पुद्‌गलों का बंध, रागादि के साथ जीव का बंध और अन्योन्य अवगाह पुद्‌गल जीवात्मक बंध कहा गया है।

जीव के रागदि भावों के निमित्य से नवीन पौद्‌गालिक द्रव्य कर्मों का पूर्व में जीव के साथ बंधे हुए पौद्गलिक द्रव्यों कर्मों के साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुण रूप उपादान कारण से जो बंध होता है उसको पुद्‌गल बंध कहते है। वीतराग परम चैतन्य रूप निज आत्मा तत्त्व की भावना से शून्य (रहित) जीव का जो रागादि भावों में परिणमन करना सो जीव बंध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होने के कारण स्निग्ध-रूक्ष की जगह राग-द्वेष में परिणमन होने वाले पुद्‌गल के साथ परस्पर अवगाह रूप बंध है वह जीव पुद्‌गल का परस्पर बंध है। इस तरह तीन प्रकार बंध का लक्षण जानने योग्य हैं।

बंध के संक्षिप्त कारण बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पुनः कहते है ''रत्तो बंधदि कम्मं'' अर्थात् रागी जीव कर्म को बाँधता है।

सामान्यतः राग एक प्रकार होते हुए भी उसके भेद-प्रभेद हो जाते हैं तब द्रव्यबंध में भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यथा-

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोस मोह जुदो।

असुहो मोहपदेशो सुहो व असुहो हवदि रागो।। (180)

परिणाम से बंध होता है, वह परिणाम राग, द्वेष, मोह युक्त है। मोह और द्वेष अशुभ है राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

बंध के भेद

बंधना सबसे पुरानी क्रियाओं में से एक है। चूंकि कुछ वस्तुएँ चेतना में रहती हैं जबकि शेष बाहर निकल जाती हैं। आपकी जागरूकता उनसे अधिक संबद्ध रहती है। आप लगातार होने वाली भीतरी बदलाव के बीच दिशा नियोजन, संबंध और सुरक्षा का भाव उत्पन्न करने के लिए इनका प्रयोग स्थिर बिदुंओ की तरह करते है। दिशा नियोजन की यह ज़रूरत बाहरी संसार में भी फैली हुई है। हालांकि आप

अंदरूनी चीज़ों से चिपके हुए हैं, आप अपने सामने बड़ी संख्या में आने वाली बाहरी वस्तुओं के साथ स्वयं को जोड़ने तथा नियोजन करने के लिए इनका उपयोग करते हैं। इसके बाद आप ऐसे विचार पैदा करते हैं जो इन वस्तुओं को जोड़ते है और फिर आप इस पूरे ढाँचे के साथ बंध जाते है। आप इस अंदरूनी ढाँचे के साथ इतना ज़्यादा जुड़ जाते हैं कि आप अपना सर्वस्व इसके साथ जोड़ लेते हैं। चूंकि आप इसके साथ चिपके रहते है, यह ढाँचा स्थिर रहता है और चूंकि यह स्थिर रहता है, आप बाकी सब चीज़ों से अधिक इसके साथ जुड़े लेते है। इसी से मनोदशा का जन्म होता है। ख़ाली दिमाग़ के विस्तृत क्षेत्र के बीच बहती हुई वस्तुओं से बंधने के कारण ऊपरी दृढ़ता का एक द्वीप तैयार हो जाता है। एक बार आपको कोई ऐसा विचार आ गया जो टिका रहता है, तो आप उसके सहारे अपना समय बिताते हैं। इसके बाद आप जैसे-जैसे अधिक विचारों से बंधते जाते हैं, आप ध्यान केंद्रित करने के लिए एक भीतरी ढाँचा बना लेते हैं। चेतना जितनी ज़्यादा इस मानसिक ढाँचे पर केंद्रित होती है, उतना ही ज़्यादा इसका उपयोग आत्मा की अवधारणा परिभाषित करने में होता है। बंधने से उस ढाँचे के निर्माण के लिए ईंटे और गारा प्राप्त होता है जिससे हम अपनी अवधारणा बनाते हैं। विस्तृत भीतरी स्थान के बीच, विचारों की भाप को छोड़कर किसी अन्य चीज़ को प्रयोग किए बिना, आपने सहारे के लिए सतही दृढ़ता का एक ढाँचा बना लिया।

आप कौन हैं, जो खोए हुए हैं और दोबारा खोजे जाने के लिए अपने बारे में अवधारणा बनाने की कोशिश कर रहे हैं? यह प्रश्न अध्यात्मिकता के सार को दर्शाता है। आपने स्वयं को परिभाषित करने के लिए जो कुछ बनाया है आप उसमें स्वयं को प्राप्त नहीं कर पाँएगे। आप स्वयं ही तो वह ढाँचा बना रहे हैं। आप विचारों और भावों शानदार संग्रह बना सकते है; किन्तु निश्चित यह आप स्वयं नहीं हैं। आपने यह सब किया है। आप खोए, डरे हुए और दुविधा में थे क्योंकि आपकी जागरूकता, आपकी आत्मा की जागरूकता से दूर कहीं और केंद्रित थी। इस घबराहट में, इस खोई हुई अवस्था में, आप सामने से गुज़रते विचारों व भावनाओं के साथ बंध गए। आपने उनका उपयोग ऐसा व्यक्तित्व, ऐसी छवि और ऐसी अवधारणा बनाने के लिए किया जिससे स्वयं को परिभाषित किया जा सके। जागरूकता उन चीज़ों पर टिक गई

जिनसे वह अवगत थी और जिन्हें वह अपना घर मानती थी। चूंकि अब आपके पास यह मॉडल है कि आप कौन है, यह जानना सरल है कि आपको क्या करना है, निर्णय कैसे लेने है और बाहरी संसार के साथ किस प्रकार व्यवहार करना है। अगर आप देख सकें तो आप देख पाँएगे कि आपका पूरा जीवन उस मॉडल पर आधारित है जो आपने अपने आस-पास बनाया था।

इसे थोड़ा और स्पष्ट करते हैं। आप दिमाग़ में विचारों और अवधारणाओं का एक जैसा सेट बनाए रखने का प्रयास करते है जैसे, ''मैं महिला हूँ।'' हाँ, यह भी आपके दिमाग़ का एक विचार है, एक अवधारणा है। आप, जिसने यह विचार बना रखा है, न पुरुष है और न ही महिला। आप वह चेतना हैं जो इस विचार को सुनती है और शीशे में महिला का शरीर देखती है। परंतु आप इन विचारों को कसकर पकड़े रखते हैं। आप सोचते हैं, ''मैं महिला हूँ। मेरी इतनी उम्र है और इस दर्शन के विरुद्ध मेरे यह विचार है। आप अपने मत के आधार पर स्वयं को परिभाषित करते हैः ''मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ, या मैं ईश्वर में विश्वास नहीं रखता हूँ। शांति और अहिंसा में मेरा भरोसा है, अथवा मैं सर्वश्रेष्ठ की उत्तरजीविता में यकीन रखता हूँ। मैं पूजीवाद को मानता हूँ, या फिर मैं नव-समाजवाद को मानता हूँ।'' आप विचारों के एक समूह को पकड़कर, इसमें से बहुत जटिल संबधंपरक ढाँचा तैयार कर लेते हैं और फिर उस पेकैज को सामने रखते हैं कि आप कौन हैं। परंतु आप यह नहीं हैं। ये सिर्फ़ विचार हैं जिन्हें आपने खुद को परिभाषित करने के प्रयास में आस-पास तैयार किया है। आप ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि आप भीतर से खोए हुए हैं।

मूल रूप से, आप अपने भीतर स्थिरता और समानता का भाव पैदा करना चाहते हैं। इससे सुरक्षा का कृत्रिम किंतु सुखद एहसास पैदा होता है। आप अपने इर्द-गिर्द लोगों से अपेक्षा करते हैं कि वे भी ऐसा ही करें। आप चाहते हैं कि लोग एक-से रहें ताकि आप उनके व्यवहार का पूर्वानुमान लगा सकें। अगर वे ऐसा नहीं करते तो आप परेशान हो जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उनके व्यवहार को लेकर आपका पूर्वानुमान आपके भीतरी मॉडल का हिस्सा बन चुका है। बाहरी जगत से संबंधित विश्वास और अवधारणों का रक्षात्मक कवच आपके और लोगों के बीच रोधक का काम करता है। दूसरे लोगों के व्यवहार के विषम में पूर्वाग्रह रखने से आप

अधिक सुरक्षित और नियंत्रित महसूस करते हैं। कल्पना कीजिए कि आपको अपनी भीतरी दीवार गिर जाने के बाद कितना डर लगेगा। आपने बिना मानसिक प्रतिरोधक की सुरक्षा के आज तक अपने असली मन के भीतर किसे आने दिया है? किसी को नहीं, स्वयं को भी नहीं!

लोग सिर्फ़ मुखौटे लगाते हैं। वे यहाँ तक भी स्वीकार कर लेते हैं कि उनका एक मुखौटा दूसरे से अधिक असली है। आप काम पर जाते हैं और वहाँ अपने व्यवसायिक मुखौट में खो जाते हैं, किंतु जब आप कहते हैं, ''मैं अपने परिवार तथा रिश्तेदारों के पास जा रहा हूँ जहाँ मैं अपने असली रूप में आ सकता हूँ।'' तो आपका व्यवसायिक मुखौटा पीछे जाता है और शांत सामजिक मुखौटा सामने आ जाता है। परंतु आपका क्या हुआ, जिसने यह मुखौटा थाम रखा था? उसके निकट कोई नहीं आ पाता। यह भयावह है तथा इतना पीछे छिपा हुआ है कि इसे सँभालना बहुत कठिन है।

हम सब लोग चिपके हुए हैं और ढाँचे बनाते जा रहे हैं। हम में से कुछ लोग इस काम में दूसरों से बेहतर हैं। अधिकतर समाजों में आप बंधने और बनाने में कितने अच्छे है, उसके हिसाब से आपको पुरस्कृत किया जाता है। अगर आप इस मॉडल को बिलकुल ठीक से तैयार कर लें आरै हर बार समान व्यवहार करें, तो आप वास्तव में एक व्यक्ति का ''निर्माण'' कर सकते हैं। यदि यह व्यक्ति दूसरों की ज़रूरत व आवश्यकता के अनुसार बन जाए तो आप बहुत सफल एवं लोकप्रिय हो सकते हैं। आप वही व्यक्ति हैं। इसके बीज आपके अदंर बचपन में ही पड़ गए थे, और आपने इस मार्ग को फिर कभी नहीं छोड़ा। किसी व्यक्ति के निर्माण के इस खेल में आप निपुण हो सकते हैं। यदि उस व्यक्ति को, जो आपने निमित्त किया है, अपेक्षित सफलता एवं लोकप्रियता नहीं मिल पाई तो आप अपने विचारों को उसी अनुसार बदल सकते हैं। इसमें कुछ ग़लत नहीं है। निश्चित ही, सभी ऐसा करते हैं। लेकिन ऐसा करने वाले आप कौन हैं और आप ऐसा क्यों कर रहे है?

यह समझना ज़रूरी है कि यह पूरी तरह आपके ऊपर निर्भर नहीं करता कि आप किन विचारों से बंधते हैं अथवा किस तरह की व्यक्ति तैयार करते है। समाज इस विषय में बहुत कुछ कहता है। समाज में लगभग हर चीज़ के लिए स्वीकार्य व

अस्वीकार्य व्यवहार होता है- कैसे बैठना, कैसे चलना, कैसे बोलना, कपड़े कैसे पहनना और चीज़ों के बारें में कैसे महसूस करना है। समाज इन मानसिक व भावानात्मक ढाँचों को हमारे मन में किस प्रकार डालता है? जब आप अच्छा काम करते हैं तो आपको दुलार किया जाता है तथा आपकी सकारात्मक ढंग से सहारना की जाती है। जब आप अच्छा नहीं करते तो आपको शरीरिक, मानसिक या भावनात्मक रूप से सज़ा दी जाती है।

सोचिए कि आप लोगों से कितने अच्छे ढंग से व्यवहार करते हैं जब वह आपकी अपेक्षा के अनुरूप कार्य करते हैं। अब सोचिए कि जब वह ऐसा नहीं करते तब किस तरह उनसे दूर हो जाते हैं। यहाँ तक किआपको गुस्सा आता है और आप हिंसक हो जाते हैं। आप क्या कर रहे हैं? आप किसी के दिमाग़ में कोई छवि बनाकर उसके स्वभाव को बदलने की कोशिश कर रहे हैं। आप उनकी मान्यताओं, उनके विचारों और भावों के सग्रंह को बदलने का प्रयास कर रहे हैं ताकि अगली बार वह आपकी अपेक्षा के अनुसार ही कार्य करें। वास्तव में, हम लोग प्रतिदिन एक-दूसरे के साथ ऐसा ही करते हैं।

हम अपने साथ ऐसा क्यों होने देते हैं? हम इस बात की इतनी चिंता क्यों करते हैं कि लोग हमारे मुखौटे को स्वीकार करें? यह सब कुछ इस बात पर सिमट जाता है कि हम अपनी अवधारणाओं से क्यों चिपके हुए हैं। अगर आप इनसे बंधना बंद कर दें तो आपको बंधने की प्रवृत्ति का कारण भी समझ में आ जाएगा। अगर आप अपना मुखौटा छोड़ दे और फिर कोई नया मुखौटा न लगाएँ, तो आपके विचार व भाव मुक्त होकर बाहर निकालने जाएँगे। यह बहुत भयावह अनुभव होगा। आपको अंदर घबराहट होगी और सहन नहीं हो पाएगा। जब कोई महत्वपूर्ण बाहरी चीज़ भीतरी मॉडल के अनुरूप नहीं हो पाती तो लोग ऐसा ही महसूस करते हैं। तब मुखौटा काम नहीं करता और टूटने लगता है। जब यह आपको बचा पाने में असमर्थ हो जाता है तो डर का सामना करने के लिए तैयार हो जाएँ तो इससे आगे बढ़ने का तरीका है। आप थोड़ा आगे चेतना में लौट सकते हैं तो उसे अनुभव कर रही है और फिर आपको डर लगना बंद हो जाएगा। फिर आपको ऐसी शांति का अनुभव होगा जो पहले कभी नहीं हुआ होगा।

यही बात है जिसे बहुत कम लोग जान पाते है : यह बंद हो सकता है। शोर, डर, दुविधा, आंतरिक ऊर्जाओं में निरन्तर बदलाव - यह सब कुछ बंद हो सकता है। आपने सोचा कि आपको अपनी रक्षा करनी है, इसलिए आपने अपनी ओर आने वाली चीज़ें थाम लीं और छिपने के लिए उनका प्रयोग किया। आपको जो भी मिला आपने उसे पकड़ लिया और दृढ़ता कायम करने के लिए आप उससे बंधने लगे। परन्तु आप इन सब चीज़ों को छोड़कर यह खेल बंद कर सकते हैं। आपको सिर्फ़ इन्हें छोड़ने और अपने भय का सामना करने का ख़तरा उठाना होगा। फिर आप इससे आगे बढ़ जाएँगे और यह समाप्त हो जाएगा। यह बंद हो जाएगा - कोई संघर्ष बाकी नहीं रहेगा; सिर्फ़ शांति होगी।

यह चीज़ों को पकड़े रखने के संघर्ष से आगे बढ़ने की यात्रा है। बेचैनी की इस अवस्था से गुज़रते हुए, आपकी चेतना ही आपके लिए एकमात्र तसल्ली की बात है। आपको सिर्फ़ इतना ही पता लगेगा कि कुछ बड़े बदलाव हो रहे हैं। आप जान पाएँगे कि कोई दृढ़ता मौजूद नहीं है और फिर आप इस बात के प्रति सहज हो जाएँगे। आप जागरूक हो जाएँगे कि प्रत्येक दिन का हर क्षण अपने आप सामने आ रहा है और उसके ऊपर आपका न कोई नियंत्रण है और न ही आप यह चाहते हैं। आपके पास कोई मान्यताएँ, आशाएँ, सपने, विश्वास और कोई सुरक्षा नहीं है। आपने होने वाली घटनाओं के मानसिक मॉडल बनाना बंद कर दिया है लेकिन जीवन पहले की तरह चल रहा है। आप इसके प्रति जागरूक रहते हुए भी पूरी तरह सहज हैं। एक पल आता है, फिर दूसरा पल और फिर उसका अगला पल। हालांकि हमेशा से यही होता आया है। एक के बाद एक पल आपकी चेतना के सामने से गुज़रता गया है। अंतर सिर्फ़ इतना है कि अब आप उसे देख रहे हैं। आपके भाव और आपका मस्तिष्क इन पलों पर प्रतिक्रिया देते हैं और इसे रोकने के लिए आप कुछ नहीं करते। इसे नियंत्रित करने के लिए आप कुछ नहीं करते। आप सिर्फ़ जीवन को बाहर व भीतर चलने दे रहे हैं।

अगर आप इस यात्रा पर निकलते हैं तो ऐसी अवस्था पर पहुँच जाएँगे जहाँ आप यह समझ पाएँगे कि जीवन के विकास से भय कैसे पैदा होता है। यह स्पष्टता आने पर आप सुरक्षा की शक्तिशाली प्रवृत्ति को अनुभव कर सकेंगे। यह प्रवृत्ति

इसलिए मौजूद है क्योंकि सचमुच आपके पास कोई नियंत्रण नहीं है और यह बात आपके लिए सहज नहीं है। अगर आप इससे मुक्त होना चाहते हैं तो आपको अपनी रक्षा किए बिना सिर्फ़ इस भय को देखते रहना है। आपकी सिर्फ़ यह जानने की इच्छा होनी चाहिए अपनी रक्षा करने की ज़रूरत से ही आपका संपूर्ण व्यक्तित्व उत्पन्न होता है। भय से दूर भागने के लिए ही यह मानसिक और भावनात्मक ढ़ाँचा तैयार हुआ था। अब आप और आपकी मनोदशा आमने-सामने खड़े हैं। (कृत्रिम दृढ़ता से मुक्त होना) **माइकल ए. सिंगर**

अगर आप भीतर जाएँगे, तो आप मनोदशा को बनता हुआ भी देख सकते हैं। आपको पता लगेगा कि आप शून्य के मध्य में, खाली अनंत आकाश में हैं और ये सब भीतरी वस्तुएँ तैरती हुई आपकी तरफ़ आ रही हैं। विचार, भाव और सांसारिक अनुभवों की छवियाँ, ये सब आपकी चेतना में प्रवेश कर रहे हैं। आप स्पष्ट देख पाएँगे कि आपकी प्रवृत्ति इस प्रवाह से बचकर इसे नियंत्रित करने की है। लोगों, जगहों और चीज़ों की तैरती हुई छवियों को आगे बढ़कर पकड़ने की आपकी प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। अगर आप इन मानसिक छवियों पर ध्यान देंगे तो आपको पता लगेगा कि यह एक ऐसे जटिल ढाँचे का हिस्सा बन जाती हैं जो वहाँ पहले नहीं था। आपको ऐसी घटनाएँ नज़र आएँगी जो उस समय घटी थीं जब आप दस साल के थे और आप आज भी उनसे चिपके हुए हैं। आप पाएँगे कि आप अपनी सभी पुरानी स्मृतियों को व्यवस्थित रूप में जोड़ रहे हैं और यह कह रहे हैं कि यही मैं हूँ। परन्तु आप वह घटनाएँ नहीं हैं; आप वह हैं जिसने उन घटनाओं को अनुभव किया है। आप स्वयं को उन घटनाओं के नाम पर कैसे परिभाषित कर सकते हैं जो आपके साथ हुई हैं? उनके होने से पहले भी तो आपका अस्तित्व था। आप स्वयं ही यह सब कर रहे, देख रहे और अनुभव कर रहे हैं। अपने निर्माण के लिए आपको अनुभवों के साथ चिपके रहने की ज़रूरत नहीं है। यह झूठा रूप है जो आप अंदर बना रहे हैं। यह सिर्फ़ आपके अपने विषय में एक अवधारणा है जिसके पीछे आप छिपते हैं।

मानसिक शांति

मानसिक शांति मन की ऐसी अवस्था है, जब मन सभी प्रकार के तनावों, चिंताओं और भय से मुक्त होकर आत्मकेन्द्रित हो जाता है और जीवन के लक्ष्यों के

बारे में पूरी शक्ति, समझ और विश्वास के साथ निर्णय लेता है और उन निर्णयों का इंद्रियों द्वारा भली प्रकार पालन भी करवाता है।

इस प्रकार मानसिक शांति की अवस्था में हम अपने लक्ष्य को अधिक शीघ्रता और विश्वास के साथ प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु आज की आपाधापी और तनाव की जिंदगी में मानसिक शांति को बनाए रखना एक दुष्कर कार्य है। हमारे स्वयं के सोच-विचार, सामाजिक व्यवस्था और पर्यावरण सभी मिलकर मानसिक शांति के मार्ग में नित नई-नई बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं।

मानसिक शांति प्राप्ति में मुख्य बाधाएँ

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मद, छल-कपट, दंभ, ईर्ष्या, द्वेष, अनाचार, दूषित यौनाचार, दूषित मनोभाव, पारिवारिक झगड़े, कटाक्ष, आलोचना, किसी दूसरे द्वारा किए कार्य में मीन-मेख निकालना आदि बातों को ही मुख्य बाधाएँ माना गया है।

किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तनाव को ही अशांति का मुख्य कारण माना गया है। जब कोई व्यक्ति की स्थिति में होता है, तो वह ठीक से सोच-विचार नहीं कर पाता है। परिणामस्वरूप मानसिक अशांति की स्थिति में फँस जाता है।

सामाजिक कारणों से पति-पत्नी का झगड़ा, सास-बहू का झगड़ा, संतान से झगड़ा, संतान का नियंत्रण से बाहर हो जाना, पति की नशे की आदत, पति या पत्नी के मन में शंका पैदा हो जाना, संबंधियों या आस-पड़ोस से झगड़ा, धन एवं जायदाद संबंधी झगड़ा आदि बातें मुख्य सामाजिक कारणों में गिनी जाती हैं।

आजकल पति-पत्नी के झगड़ों का मुख्य कारण प्रायः अहं का टकराव ही होता है। यदि पति-पत्नी दोनों ही नौकरी कर रहे हैं, तो इसकी संभावना बहुत अधिक होती है। दोनों ही एक-दूसरे पर हावी होना चाहते हैं, साथ ही यह भी चाहते हैं कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य न किया जाए।

यदि यौन संबंधों में दोनों एक-दूसरे को संतुष्ट न कर पाते हों, तो भी संबंधों में तनाव बना रहता है। एक-दूसरे पर लांछन लगाने से, कामों में दोष निकालते रहने से भी तनाव की स्थिति बनी रहती है। यदि पति घर में पूरा वेतन लाकर न देता हो, तो भी दोनों में झगड़े की नौबत आती रहती है। यदि पति-पत्नी से मार-पीट करता हो, पर स्त्री गमन करता हो, घर के कामकाज में रुचि न लेता हो, तो भी झगड़ा होने की

संभावना रहती है एवं तनाव की स्थिति बनी रहती है।

इस प्रकार के तनाव का मन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और मन में उठे विचार शरीर की क्रियाओं को प्रभावित करने लगते हैं। विचारों के इस प्रभाव को शारीरिक क्रियाओं पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

विचारों का शरीर पर प्रभाव

जब व्यक्ति निराश एवं उदास रहता है, तो इसका प्रभाव उसके पाचन-तंत्र पर पड़ने लगता है। पाचन-तंत्र बिगड़ जाता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि उस व्यक्ति की भूख कम हो जाती है, रक्त संचार में गड़बड़ आ जाती है, माँस-पेशियों की सक्रियता पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का भार भी कम होने लगता है।

जब कोई व्यक्ति मानसिक तनाव में रहता है, तो उसके प्रभाव से उसे पेट का अलसर, रक्तचाप, चर्म रोग और गठिया आदि रोग लग जाने की संभावना बनी रहती है। एलर्जी एवं माइग्रेन (सिर दर्द) भी मानसिक तनाव से ही पैदा होते हैं।

जो व्यक्ति सदा भयभीत रहता है, उसके शरीर की शक्ति क्षीण होती जाती है।

जो व्यक्ति बहुत लोभी होता है, उसे रक्तहीनता की बीमारी होने की संभावना बनी रहती है।

जो व्यक्ति अहंकार होती है, उसके मन में कभी भी चैन नहीं पैदा हो पाता है। वह सदा स्वयं को ही सिद्ध करने के प्रयास में लगा रहता है।

जो व्यक्ति नकारात्मक विचार रखता है, उसके रक्त में विषैले तत्व बढ़ते जाते हैं, जो कई प्रकार के रोग पैदा करते हैं।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को एक नियमित कार्यक्रम के अनुसार जीवन जीना चाहिए। **जीवन में पूर्णता एवं संतुष्टि की भावना एक टॉनिक का कार्य करती है। शारीरिक रोगों को जड़ मन के अंदर ही स्थित होती है।** मन संबंधी रोगों को 'आधि' कहा जाता है और शारीरिक रोगों को 'व्याधि' कहा जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, द्वेष और अहंकार आदि को मन के नकारात्मक विचार माना जाता है। इनका प्रभाव टी.वी., कैंसर, आदि से भी अधिक संक्रामक होता है। इसीलिए कहा जाता है कि जैसा सोचोगे, वैसा ही बन जाओगे। अच्छे विचारों का शरीर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और नकारात्मक विचारों का शरीर पर बुरा प्रभाव

पड़ता है।

मस्तिष्क तरंगों का योगदान

शरीर पर विचारों का प्रभाव किस प्रकार और क्यों पड़ता है, यह स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिकों ने चार प्रकार की मस्तिष्क तरंगों का पता लगाया है। ये हैं-अल्फा, बीटा, थीटा और डेल्टा।

अलफा तरंग : यह तरंग उस समय पैदा होती है, जब मस्तिष्क शांत, निष्क्रिय, तटस्थ और तनावरहित अवस्था में होता है। यह तरंग प्रति सेकंड 8 से 13 चक्कर लगाती है। जब भी कोई योगी ध्यान अवस्था में होता है, तो उसके मस्तिष्क में यही अलफा तरंगों वाली स्थिति पैदा हो जाती है।

साधारण व्यक्ति भी जब कभी इस अवस्था में आ जाता है, तो वह एक विशेष आनन्द का अनुभव करने लगता है। मानव जीवन में यह एक परमानंद की अवस्था है। लोभी, क्रोधी एवं ईर्ष्या-द्वेष से युक्त व्यक्ति इस अवस्था में पहुँच नहीं पाते हैं।

बीटा तरंग : बीटा तरंग उस समय पैदा होती है, जब व्यक्ति दत्त चित्त होकर किसी कार्य में लगा होता है। यह तरंग एक सेंकड़ में 14 या इससे अधिक चक्कर लगाती है। यह दिमाग के सक्रिय होने की स्थिति है। जैसे जोड़ना, हिसाब लगाना या किसी समस्या का हल सोचना आदि के समय की अवस्था है।

थीटा तरंग : यह नींद से पूर्व या अर्द्धनिद्रित अवस्था में उठती है। यह एक सेकंड में 4 से 6 चक्कर लगाती है।

डेल्टा तरंग : यह नींद की अवस्था में उठती है और एक सेकंड में 1 से 6 चक्कर लगाती है।

कार्यों का शरीर और मन पर प्रभाव

व्यक्ति के सोचने एवं कार्य करने के ढंग का उसके जीवन की सफलता और असफलता पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए सभी धर्मों की मुख्य सीख यही है कि 'जैसा करोगे, वैसा ही भरोगे'। 'जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे।' ऐसा कहने का केवल धार्मिक आधार ही नहीं है। इसका वैज्ञानिक आधार भी है।

जब भी कोई व्यक्ति किसी का बुरा करता है या सोचता है, छल-कपट के

कार्य करता है, तो उसका रक्तचाप और दिल की धड़कन एकाएक बढ़ जाती है। जब व्यक्ति बार-बार वैसा ही करता रहता है, तो रक्तचाप और दिल की धड़कन को बढ़े रहने की आदत पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति के अंदर किसी-न-किसी रोग का जन्म हो जाता है।

क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या-द्वेष, चिंता एवं तनाव का भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। ये सभी हमारे अंदर के रासायनिक संतुलन को बिगाड़ देते हैं।

पिट्यूटरी एवं एड्रीनल ग्रंथियाँ उस संतुलन को बनाए रखने का प्रयास करती रहती हैं। इस कार्य में उन्हें अधिक-से-अधिक हारमोन-रस छोड़ना पड़ता है। ये ग्रंथियाँ कुछ सीमा तक तो ऐसा करती हैं, किन्तु यदि वह व्यक्ति उन बुराइयों को करता ही रहता है, तो ग्रंथियाँ भी हार मान लेती हैं और अतिरिक्त हारमोन रस छोड़ने का अपना प्रयास बंद कर देती हैं। बढ़े हुए रक्तचाप के कारण दिल की धमनियों की लचक धीरे-धीरे घटने लगती है, जिससे दिल से रक्त ले जाने वाली रक्त-नलिकाएँ कठोर होने लगती है। इस कारण दिल के रोग और अलसर आदि रोग होने के आसार बढ़ जाते हैं। कई प्रकार के दूसरे रोग भी शरीर में हो जाते हैं, जो धीरे-धीरे व्यक्ति के जीवन को घुन की तरह अंदर से खोखला करने लगते हैं।

क्योंकि ये परिवर्तन दिखाई नहीं देते हैं, इसलिए लोग इनकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देते। थोड़े से झुठे सुख के लोभ में अपना अमूल्य जीवन नष्ट करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि कई प्रकार के मनोकायिक रोग (मन के विकारों के परिणाम शरीर पर रोग के रूप में उभरने लगते हैं, जैसे दमा, खुजली, सिर दर्द, एग्जिमा आदि) उनको घेरने लगते हैं।

इस तरह से प्रकृति बुरे कर्मों की सजा देती रहती है और 'जैसी करनी, वैसी भरनी' कहावत को सही सिद्ध करती है।

असीमित इच्छाओं से तनाव

सभी प्राणियों की कुछ-न-कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं-जैसे भूख, प्यास, नींद एवं यौन-संबंध स्थापित करने की इच्छा। इनके पूरा होते ही मनुष्य के अतिरिक्त सभी प्राणी शांत हो जाते हैं।

क्योंकि मनुष्य को ईश्वर ने मन और बुद्धि भी दे रखी है, इसलिए मनुष्य इन

वस्तुओं को प्राप्त करके भी संतुष्ट नहीं होता है और वह इनका अधिक-से-अधिक आनंद उठाना चाहता है।

वह झोंपड़ी में सोकर ही संतुष्ट नहीं होता है, बल्कि बड़े-बड़े महल बना लेना चाहता है, जो उसकी संतान के भी काम आ सकें। एक पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् उससे भी बड़ा कोई दूसरा पद प्राप्त कर लेना चाहता है। जितना यश, धन और पद की प्राप्ति होती जाती है, उतनी ही उसकी इच्छाएँ और अधिक बढ़ती जाती हैं। मानव की परेशानियों की मूल कारण उसकी असीमित इच्छाएँ और बेलगाम मन ही है।

साइकिल वाला स्कूटर चाहता है। स्कूटर वाला कार चाहता है, कार वाला हवाई जहाज की कल्पना करता रहता है। मृत्यु तक व्यक्ति के मन में नई-नई इच्छाएँ पैदा होती ही रहती हैं। ये असीमित इच्छाएँ ही व्यक्ति के सभी दुःखों का एक मुख्य कारण है। जब वह अपनी किसी इच्छा को पूरा नहीं कर पाता है, तो उसके अंदर तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है।

मानसिक शांति के शत्रु

घृणा मानव का एक ऐसा शत्रु है, जो किसी-न-किसी रूप में प्रकट होता रहता है। ईर्ष्या-द्वेष, गाली-गलौच, मजाक उड़ाना, दूसरों को चिढ़ाना आदि घृणा के ही रूप हैं। घृणा से छुटकारा पाना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि कोई-न-कोई रूप धारण कर यह मन से बाहर प्रकट होती ही रहती है।

यदि पिता किसी व्यक्ति से घृणा कर रहा है, तो इसकी संतान भी उस व्यक्ति से घृणा करने लगती है। इस प्रकार से घृणा का बीज और आगे बढ़ने लगता है। जिस व्यक्ति से हम घृणा कर रहे होते हैं, यदि वह बीस वर्ष बाद भी मिलता है, तो उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण घृणा का ही होता है। घृणा के कारण ही पति-पत्नी में तलाक तक की नौबत आ जाती है। घृणा के कारण ही पिता और पुत्र में मुकदमे तक शुरू हो जाते हैं। घृणा के प्रभाव से बचने का सबसे बढ़िया उपाय यही है कि आप जिस व्यक्ति से भी घृणा कर रहे हों, उसके गुण देखना शुरू कर दो। उन गुणों के कारण अपने अंदर उस व्यक्ति के प्रति आदर-सम्मान का भाव पैदा करने का प्रयास कीजिए। **(मानसिक शान्ति के रहस्य, हरिदत्त शर्मा)**

मैं निर्बन्ध बनूँ (स्वतंत्र होने हेतु मेरा पुरुषार्थ)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आओ धीरे-धीरे चेतन...)

आओ धीरे-धीरे चेतन स्वतंत्र भाव में,
स्वतंत्र भाव में चेतन बन्धन मुक्त में...ऽऽऽ (ध्रुव)
यह ही भाव तेरा रूप...शुद्ध-बुद्ध व आनन्द रूप।
स्व-स्वरूप का अनन्त रूप...अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य।।आओ...(1)

इस हेतु नाश करो राग-द्वेष, काम-क्रोध-मोह-माया बन्ध।
ईर्ष्या-तृष्णा व घृणा बन्ध, अहंकार-ममकार वर्चस्व बन्ध।।आओ...(2)

संकीर्ण-कट्टर-अनुदार बन्ध...जाति-पंथ-मत-भाषा बन्ध।
धनी-गरीब-काला-गोरा बन्ध...अपना-पराया-शत्रु-मित्र बन्ध।। आओ...(3)

ख्याति-पूजा व लाभ बन्ध...दीन-हीन व विषय बन्ध।
निन्दा-प्रशंसा-असूया बन्ध...अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा बन्ध।।आओ (4)

आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व बन्ध...आशा-निराशा-दबाव बन्ध।
आडम्बर-दिखावा-ढोंग बन्ध...धन-जन-साधन-इच्छा बन्ध।। आओ (5)

मान-सम्मान-अभिमान बन्ध...कौन क्या कहेगा/(सोचेगा) विचार बन्ध।
अन्धानुकरण-अनुदार बन्ध...संकल्प-विकल्प-संक्लेश बन्ध।। आओ (6)

इससे परे बनो हे! निर्बन्ध...समता-शान्ति-निस्पृहता निर्बन्ध।
आत्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र निर्बन्ध...क्षमा-मृदुता-निर्मलता-निर्बन्ध।। आओ (7)

सहज-सरल-विनम्र निर्बन्ध...आत्मानुशासन से बनो निर्बन्ध।
स्व के कर्त्ता-धर्त्ता से बनो निर्बन्ध...पर परिणति से बनो निर्बन्ध।। आओ (8)

आत्मविशुद्धि-अनुभव निर्बन्ध...निष्काम-निर्द्वन्द्व से निर्बन्ध।
स्वाध्याय-ध्यान से बनो निर्बन्ध...स्व में स्थित हो 'कनक' बनूँ निर्बन्ध।। आओ (9)

सागवाड़ा 23.05.2018 रात्रि 10.02

सन्दर्भ-

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियक (3) आहारक (4) तैजस रूप होने वाली जो कर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपन तरफ खींचता है।

सः आस्रवः। (मोक्षशास्त्र)

This Yoga is the channel of Asrava of inflow of Karmic matter into the soul.

वही आस्रव है।

काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग से आस्रव होने के कारण इन योगों को ही आस्रव कहा है। कर्म परमाणु का, योग के द्वारा आकर्षित होकर आने को आस्रव कहते हैं। योग, आस्रव होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर योग को ही आस्रव कहा है। जैसे-अन्न प्राण नहीं है तो भी प्राण की स्थिति में अन्न कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं।

जैसे-नौका में छिद्र होने पर छिद्र से पानी नौका में प्रवेश कर लेता है उसी प्रकार मन, वचन, काय से परिस्पंदन रूपी छिद्र से कर्म का आगमन होता है उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं (1) द्रव्य आस्रव (2) भाव आस्रव।

उपर्युक्त वर्णन से द्रव्य संग्रह की प्रतिपत्ति एवं तत्वार्थ सूत्र की प्रतिपत्ति में कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है। तो तत्वार्थ सूत्र के अनुसार इसका कारण मन, वचन, काय का परिस्पंदन कहा है परन्तु दोनों का हार्द एवं रहस्य एक ही है। उसका कारण यह है कि जब जीव में वैभाविक परिणाम होता है तब उस वैभाविक कारणों के कारण जीव के आत्म प्रदेश में क्षोभ/कंपन/स्पंदन/योग उत्पन्न होता है और इसके कारण ही आस्रव होता है। परिणाम एवं योग में कार्य-कारण संबंध है। परिणाम कारण है तो योग कार्य है। द्रव्य संग्रह ग्रंथ कर्त्ता ने कारण को मुख्यता देकर वर्णन किया है तो तत्त्वार्थ सूत्र के ग्रंथ कर्त्ता ने कार्य को मुख्यता देकर वर्णन किया है। विवक्षा वशतः वर्णन अलग होते हुए भी दोनों के उद्देश्य एवं कार्यादि में किसी प्रकार का अंतर एवं

विरोध नहीं है। परिणाम के बिना केवल शरीर में परिस्पंदन होने से आस्रव नहीं होता है। जैसे-मृत शरीर में किसी कारणवशतः हलन-चलन होने पर भी कर्मास्रव नहीं होता है। जैसे ध्यानस्थ मुनिराज का शरीर कोई दुष्ट जीव हिलाता है, डुलाता है या फेंकता है तब उस संबंधी शरीर में कंपन भी होता है तो भी उस कंपन संबंधी कर्मास्रव नहीं होता है इससे सिद्ध होता है कि वैभाविक उपयोग से जो योग होता है उससे आस्रव होता है।

भावास्रव की परिभाषा

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।। (30)

Then, it should be known that of the former (i.e. Bhavasrava)) (the subdivisions are) Mithyatva, Avirati, Pramada, Yoga, Anger, etc; (which are again of) five, five, fifteen, three and four classes, respectively.

अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पाँच भेद जानने चाहिये और मिथ्यात्व आदि के क्रम में पाँच, पाँच, पंद्रह तीन और चार भेद समझने चाहिये अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच भेद, अविरति के पाँच भेद, प्रमाद के पन्द्रह भेद, योग के तीन भेद और क्रोध आदि कषायों के चार भेद जानने चाहिए।

29 नंबर गाथा में सामान्यतः भावास्रव एवं द्रव्यास्रव की परिभाषा देने के बाद 30 नंबर गाथा में आचार्य श्री ने क्रम प्राप्त भावास्रव की सूत्रबद्ध व्यापक परिभाषा दी है। पूर्व में बताया गया था कि आस्रव के मूल कारण वैभाविक उपयोग एवं योग हैं। वैभाविक भाव की दृष्टि से उपयोग 1 प्रकार होते हुए भी उसके उत्कृष्ट प्रतिपत्ति से असंख्यात् लोक प्रमाण भाव होते हैं जिसे अध्यवसाय स्थान, कषाय स्थान, बंध स्थान आदि नाम से अधिक-अधिक कर सकते हैं। इस गाथा में आचार्य श्री ने प्रतिपादित करने की उत्कृष्ट प्रणाली एवं बहुप्रचलित प्रणाली मध्यम प्रतिपत्ति का सहारा लिया है।

1. मिथ्यात्व : सर्वज्ञ हितोपदेशी द्वारा प्रतिपादित सत्य-तथ्य से विपरीतरूप अंध श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। 363 से लेकर संख्यात, असंख्यात एवं अनंत प्रकार के भी मिथ्यात्व होते हैं। तथापि यहाँ पर (1) एकांत मिथ्यात्व (2) विपरीत मिथ्यात्व (3) विनय मिथ्यात्व (4) संशय मिथ्यात्व (5) अज्ञान मिथ्यात्व को ग्रहण किया गया है।

1. एकांत मिथ्यात्व : वस्तु में अनेक गुण धर्म होने के कारण वस्तु का स्वरूप अर्थात् धर्म अनेकांतात्मक है। परन्तु कदाग्रह से, हठाग्रह से उनमें से कोई एक ही धर्म को अथवा गुणों को स्वीकार करके अवशेष गुण एवं धर्म को स्वीकार न करना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे-ब्रह्म को ही सत्य मानना, जगत् को मिथ्या मानना। संसारी जीव को भी एकांततः मुक्त मानना आदि।

2. विपरीत मिथ्यात्व : सत्य से विपरीत मान्यता विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे-विश्व को शून्य मानना, चैतन्य मुक्त जीव का अभाव मानना आदि-आदि।

3. विनय मिथ्यात्व : ''गंगा गये गंगादास जमुना गये जमुनादास'' इस कथन के अनुसार सत्य की परीक्षा किए बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा मिथ्यात्व देव-शास्त्र-गुरु को सच्चे धर्म एवं मिथ्याधर्म को समान भाव से मानना विनय मिथ्यात्व है।

4. संशय मिथ्यात्व : सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित एवं उनके कथनानुसार लिखा हुआ ग्रंथ के विषयों को सत्य है या नहीं? पुण्य या पाप का फल मिलता है या नहीं? इस प्रकार की भ्रम बुद्धि को भी संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

5. अज्ञान मिथ्यात्व : जिसमें हित-अहित विवेक का अत्यन्त अभाव है। तथा कपोल-कल्पित, रूढ़ी एवं मिथ्या-परंपराओं को धर्म मानना अज्ञान मिथ्यात्व है।

2. अविरति : हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और अपरिग्रहरूप पाँचों पापों का त्याग नहीं करना पंच अविरति है। प्रकारांतर से पाँच इन्द्रिय एवं मन की प्रवृत्ति को नहीं रोकना और षट्काय जीव की विराधना ऐसी बारह प्रकार की अविरति भी है।

3. प्रमाद : आत्मोन्नति के कारणभूत अपने कर्त्तव्यों में, अपने धर्म में क्रोधादि कषायों से प्रेरित होकर, अनुत्साहित होना, सतर्कता नहीं रखना, आलसी बनना प्रमाद है। 4 कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) 4 विकथा (राजकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोर कथा) 5 इन्द्रिय (स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण) निद्रा और

राग इस तरह 15 प्रमाद के भेद हैं।

4. योग : मन, वचन, काय के परिस्पंदन को योग कहते हैं। मन योग, वचन योग और काय योग से योग के तीन भेद हैं। अथवा 4 मनोयोग, 4 वचन योग एवं 7 काय योग मिलाकर 15 योग के भेद भी हैं।

द्रव्यास्त्रव की परिभाषा एवं भेद

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।

दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो।। (31) द्र.सं.

That influx of matter which causes Jnanavaraniya etc. is to be known as Dravyasrava as called by the jina and possessing many varieties.

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्त्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदों सहित हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

योग एवं उपयोग रूपी भावास्त्रव के कारण कर्म योग्य पुद्गलों का आगमन होना द्रव्यास्त्रव है। जिस प्रकार वायु से चालित धूलि द्वार एवं गवाक्ष (खिड़की) के माध्यम से घर में प्रवेश करती है उसी प्रकार कर्म वर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य योग एवं उपयोग के द्वार से आत्मा में जो प्रवेश करता है उसे द्रव्यास्त्रव कहते हैं। यह द्रव्यास्त्रव सामान्यतः एक होते हुए भी पुण्य-पाप एवं घाति-अघाति रूप से दो प्रकार के हैं। (1) ज्ञानावरणीय (2) दर्शनावरणीय (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम (7) गोत्र (8) अन्तराय के भेद से 8 प्रकार के भी हैं। ज्ञानावरणीय के 5, दर्शनावरणीय के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु के 4, नाम के 93, गोत्र के 2 और अन्तराय के 5 इस प्रकार 148 प्रकार के भी हैं। इतना ही नहीं, इसके संख्यात-असंख्यात भेद भी हो जाते हैं।

भाव-बंध एवं द्रव्य-बंध

बज्झदिकम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो (32)।। द्र.सं.

That conscious state by which Karma is bound (with the

soul) is called Bhava-bandha, while the interpenetration of the Karma and Pradeshas of the soul of the other (i.e. Dravyabandha)

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह तो भाव बंध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बंध है।

आस्रव के बाद जीव एवं पुद्गल की जो अवस्था विशेष होती है उसे बंध कहते हैं। गाय को जैसे रस्सी से बाँधते हैं या कागज की गोंद से चिपकाते हैं उसी प्रकार बंध यहाँ नहीं होता है परन्तु यह बंध लोहे को अग्नि से गर्म करने पर जिस प्रकार अग्नि और लोहे का संश्लेष बंध (अन्योन्य प्रदेश) होता है उसी प्रकार होता है। यह बंध भी दो प्रकार के हैं। 1. द्रव्य बंध, 2. भाव बंध। मिथ्यात्व आदि वैभाविक भाव, भाव बंध है। तो कर्म परमाणु का जीव प्रदेश में संश्लेषित बंध हो जाना द्रव्य बंध है। वृहद द्रव्य संग्रह में संस्कृत टीका में कहा गया है मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबंधो भण्यते। ''कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो'' कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्य प्रवेशमितरः। तेनैव भावबंध निमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्य प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबंध इति।

मिथ्यात्व राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जो परिणाम है उससे जो कर्म बंधता है वह भावबंध कहलाता है। कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप द्रव्य बंध (दूसरा) है। अर्थात् उसी पूर्वोक्त भावबंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध तथा जल की भाँति एक दूसरे में प्रवेश होना अर्थात् मिल जाना है सो द्रव्य बंध है।

बंध के भेद व कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।। (33) द्र.सं.

Bandha is of four kinds, according at the (subdivisions, viz,) Prakriti, ?Sthiti, Anubhaga and Pradesha, Prakriti and Pradesh are (produced) from Yoga, but Sthiti and Anubhaga and from Kashaya.

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश तथा प्रदेशबंध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं।

वर्तमान गाथा के पूर्वार्ध में बंध के भेद एवं उत्तरार्ध में उस बंध के कारण को बताया है।

सामान्य दृष्टि से यह बंध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबंध, भावबंध के भेद से दो भेद, कर्म बंध, नोकर्मबंध भावबंध के भेद से तीन प्रकार के हैं (1) प्रकृति बंध (2) स्थिति बंध (3) अनुभव बंध (अनुभाग) (4) प्रदेशबंध के भेद से बंध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बंध आठ प्रकार के भी है। 148 (एक सौ अड़तालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बंध 148 प्रकार के भी हैं। परन्तु मुख्यतः प्रकृति आदि के प्रकार के बंध के भेदों का वर्णन यहाँ पर कर रहे हैं।

महान् तत्त्वज्ञ दार्शनिक महर्षि उमास्वामी ने ज्ञान-विज्ञान-धर्म एवं दर्शन की अनुपम कृति तत्वार्थ सूत्र में चार प्रकार के बंधों का वर्णन करते हुए कहा भी है -

प्रकृतिस्थितियनुभव प्रदेशास्तद्विधयः।। (3) (रा.वा.अ.8)

प्रकृति स्थिति अनुभव (अनुभव) और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार के है।

प्रकृति बंध

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।।(4) रा.वा.

प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवादी शब्द हैं। जैसे-नीम की प्रकृति क्या है? नीम का स्वभाव तिक्तता है गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है अर्थात् नीम की प्रकृति कड़वापन है और गुड़ की प्रकृति मधुरता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव अर्थज्ञान नहीं होने देना अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार दर्शनावरणय की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ का दर्शन नहीं करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है नारक तिर्यञ्च आदि व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच नीच का व्यवहार कराना तथा अंतराय कर्म का स्वभाव है दानादि में विघ्न कराना। इस प्रकार के कार्य

जिससे उत्पन्न होते हैं, वह प्रकृति बंध है। अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है।

स्थिति बंध

तत्स्वभावप्रच्युतिः स्थितिः।। (15)

उस स्वभाव से च्युत ना होना स्थिति है अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है। जैसे-बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावराणीय आदि कर्म-प्रकृति का अपने अर्थानगमन आदि (अर्थों का ज्ञान नहीं हो, वेदना आदि) स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

अनुभाग बंध

तद्रसविशेषोऽनुभवः।। (6)

कर्मों के इस विशेष (फलदान शक्ति विशेष) को अनुभाग बंध कहते हैं। जैसे-बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र मंद आदि भाव से रस विशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उसमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/ अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रदेश बंध

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः।। (7)

इयत्ता के अवधारण को प्रदेश बंध कहते हैं अर्थात् कर्म रूप के परिणत पुद्गल स्कंधों के परमाणुओं की गणना को प्रदेश बंध कहते हैं।

तत्र योग निमित्तौ प्रकृति प्रदेशौ।। (9)

इस बन्ध के विकल्पों में प्रकृति बन्ध और प्रदेश बंध योग के निमित्त से होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय के कारण होता है अर्थात् स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय हेतुक है ऐसा जानना चाहिए। इन कषायों के तारतम्य से स्थिति अनुभाग में विचित्रता आती है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

जीव को परतंत्र करने रूप स्वभाव के कारण कर्म प्रकृति एक होते हुए भी विभिन्न कार्य भेद में इन प्रकृतियों में भी आठ भेद हो जाते हैं। यथा- (1) ज्ञानावरणीय (2) दर्शनावरणीय (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम (7) गोत्र (8) अन्तराय। इन प्रकृतियों के स्वभाव अर्थात् कार्य निम्न प्रकार के होते हैं।

पड पडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसी भावा तहवि य कम्मा गुणेयव्वा।।(21) (गो. सा. कर्मकांड)

पट अर्थात् देवता के मुख से उपर का वस्त्र। (1) प्रतिहार अर्थात् राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल (ड्योडीवान) (2) असि (शहद लपेटी तलवार की धार) (3) शराब (4) काठ का यंत्र-खोड़ा (5) चित्राकार/चितेरा (6) कुंभार (7) भंडारी (खजांची) (8) इन आठों के जैसे-जैसे अपने-अपने कार्य करने के भाव होते हैं उसी तरह क्रम से कर्मों के भी स्वभाव समझना चाहिए।

उपरोक्त उदाहरण आठों कर्म के लिए क्रम से है इसका विशेष व्याख्यान नीचे कर रहे हैं।

(1) ज्ञानावरणी

वत्थस्य सेदभावो जह णासेहि मल विमेलणाच्छण्णो।
अण्णाण मलोच्छण्णं तह णाणं होदिणादव्वं।। (165)

(समयसार)

मैल के विशेष संबंध से दबकर वस्त्र के श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से) दबकर नष्ट हो जाता है।

जैसे-दर्पण के ऊपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य के सन्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है व भगवान् के सामने वस्त्र रहने पर भगवान् का रूप ढ़क जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढ़क देता है।

सांसारिक कामों के त्यागी श्रमण

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की.....)

धन्य गुरुवर धन्य हो तुम...जो ज्ञान-ध्यान-तप करते हो।
लौकिक कामों को त्यागकर...स्व-पर-विश्व हित करते हो।। (ध्रुव)

आत्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र युक्त...आपने त्यागा समस्त परिग्रह।
अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य...महाव्रत सहित समिति पंच।।
क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच...तप-त्याग व आकिंचन्य।
आत्मविशुद्धि-आत्मविश्वास हेतु...रहते सतत प्रयत्नवान्।। (1)

ज्ञानदान आप करते हो...अभयदान भी प्रमुखता से।
आहार-औषधि-ज्ञान दान...अभयदान का करते उपदेश।।
ना करते हो अर्थ आधारित दान...क्योंकि आप अपरिग्रही हो।
दान हेतु न करते याचना...न करते हो चन्दा-संग्रह भी।। (2)

आप न करते हो व्यापार-कृषि...शिल्प-नौकरी आदि आर्थिक काम।
ज्योतिष-मंत्र-तंत्रादि व्यापार...पशुपालन आदि गृहस्थ व्यापार।।
राजनीति व कानूनी व्यवसाय...विवाह आदि पापारंभ कर्म।
ये सभी संसारवर्द्धक काम...इससे परे करते हो मोक्ष पुरुषार्थ।।(3)

इन सभी काम त्याग से आप...बने हो दिगम्बर जैन श्रमण।
पुनः ये काम करना तो मानो...स्व-वमन/(उल्टी) को पुनः करना भक्षण।
श्रावक धर्माश्रित व्रत-नियम...दान-पूजा-विधान-पंचकल्याणक।
इस सम्बन्धी करते हो ज्ञानदान...उसी हेतु न करते स्व-व्रतदूषण।।(4)

दान-पूजादि हेतु करते उपदेश...जिससे होती धर्म प्रभावना।
सातिशय पुण्य होता उपार्जन...स्वर्ग-मोक्ष हेतु होता कारण।।
संक्लेश रहित देते हो मार्गदर्शन...ख्याति-पूजा-लाभ नहीं प्रयोजन।
आगम अनुसार करते आचरण...आत्मविशुद्धि ही मुख्य प्रयोजन।।(5)

श्रमण धर्म तो उत्कृष्ट धर्म है...इसे पाने हेतु श्रावक पाले धर्म।

श्रावक धर्म से न मिलता मोक्ष...मोक्ष हेतु श्रावक बनते श्रमण।।
अतएव आप तो पूजनीय हो...चक्रवर्ती से ले देवेन्द्र से।
आप के अनुयायी 'सूरी कनक' भी...प्राप्त करने हेतु आत्मवैभव ही।।(6)

(सागवाड़ा 26.05.2018 मध्याह्न 02.45)

(यह कविता सेठ दिलीपकुमारजी नोगामिया के कारण बनी)

सन्दर्भ-

मुनियों की अलौकिक वृत्ति

अनुसरतां पदमेतत्, करंविताचार नित्य-निरभिमुखाः।
एकांत विरति रूपा भवंति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।(6) पुरुषा.
एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणि पात्रो दिगम्बरः।
कदाऽहं संभविष्यामि, कर्म निर्मूलनेक्षमः।।1।।
अतः कारणात. सर्व पाप विरतिः मुनीनामेव न तु गृहस्थानामित्यर्थः।

The life-routine of such saints as follow this path, as are ever a verse to questionable conduct, and have adopted compeleter renunciation, is uncommon indeed.

व्याख्या-भावानुवाद : संसार-रहित वृत्ति अर्थात् अलौकिक आचार निग्रन्थ मुनियों के होते हैं। इस आत्म तत्त्व पद का अनुसरण करता हुआ मुनि समस्त पापों से निवृत्त होकर व्यवहार से मिला हुआ आचार से सदैव विमुख होकर अर्थात् पाप क्रिया से मुक्त व्यवहार से विरक्त होकर सदैव आलौकिक वृत्ति अर्थात् पाप रहित वृत्ति में विचरण करता है। कहा भी है -

भव्य मुमुक्षु विचार करता है कि मैं कब एकाकी, निस्पृह, शान्त, पाणि-पात्री, दिगम्बर होकर कर्म को नष्ट करने में सक्षम बनूँ। इसलिए समस्त पाप से विरक्ति मुनि की होती है न कि गृहस्थों की।

एकदेश व्रत के उपदेश के योग्य शिष्य

बहुशः समस्त विरंति, प्रदर्शिता यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेश विरतिः, कथनीयाऽनेन बीजेन।।17।।

He who, in spite of repeated dissertations, is unable to accept the path of absolute renunciation, should in that event, be lectured upon partial renunciation.

व्याख्या अनुवाद : जिस पुरुष को समस्त पाप विरक्ति रूप मुनि मार्ग का प्रदर्शन करने पर भी शक्ति की कमी के कारण ग्रहण नहीं कर पाता है उस भव्य जीव को एकदेश विरति रूप श्रावकाचार को बार-बार समझना चाहिए। जो भव्य मुनि धर्म को अंगीकार करने में असमर्थ है उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिये। यही इसका भावार्थ है।

दंडनीय उपदेश

यो यति धर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ धर्म्ममल्प मतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने, प्रदर्शितं निग्रह स्थानम्।।18।।

The unwise (preceptor) who without discoursing upon the "order of saints" only lectureres upon "order of the house-holder" is, according to the saying of the worshipfull deserving of censure.

व्याख्या-अनुवाद : जो उपदेश दाता गुरु सर्व-सावद्य विरतिरूप मुनि धर्म का कथन न करके केवल गृहस्थ धर्म स्वरूप कुछ विरक्त कुछ अतिरिक्त रूप व्रत का कथन करता है वह पुरुष अल्पमति है। ऐसा अल्प, तुच्छ, स्तोक बुद्धि वाला गुरु केवल गृहस्थ धर्म का कथन करता है। यह भगवत् प्रवचन में दण्डनीय स्थान को प्राप्त होता है। इसका रहस्य यह है कि पहले मुमुक्षु भव्य को मुनि धर्म का प्रवचन देना चाहिए। और यदि वह मुनि को स्वीकार करने में असमर्थ होता है तो गृहस्थ धर्म अर्थात् श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिए।

योग्य शिष्य को अपूर्ण उपदेश से हानि

अक्रमकथनेनःयतः, प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रवत्तः, प्रतारिता भवति तेन दुर्मतिना।। 19 ।।

Because, on account of the ill-regulated discourses of the unwise (preceptor), even the disciple, who had pitched up its resolution high, is made to content himself only with a low position and is thus misled.

व्याख्या-अनुवाद : 18 वें नम्बर के श्लोक में जो कहा गया है कि जो पहले मुनि धर्म का उपदेश न देकर के गृहस्थ धर्म को उपदेश देता है वह दण्डनीय हैं। उसका कारण यह है कि जिसके कारण से मुमुक्षु शिष्य उपासक रूपी अपदस्थ गृहस्थ धर्म में प्रवृत्त हो जाता है जिसके कारण से दुर्बुद्धि गुरु के द्वारा शिष्य वंचित हो जाता है, ठगा जाता है। पहले अति उत्साहित होकर जब शिष्य गुरु के पास आकर धर्म श्रवण एवं ग्रहण करना चाहता है तब गुरु को पहले उत्साह के अनुसार उसे उत्कृष्ट मार्ग मुनि मार्ग का उपदेश देना चाहिये परन्तु इसके विपरीत श्रावक धर्म का कथन करने से वह उत्साहमान् भी शिष्य निश्चय धर्म रूप मुनि धर्म को न जानकर व्यवहार रूप श्रावक धर्म को अंगीकार कर लेता है। व्यवहार कथन से और निश्चय अकथन से व्यवहार ही निश्चय ऐसा जानकर शिष्य व्यवहार का ही आचरण करता है। अतः उपदेश दाता गुरु को संसार सागर में ही रुला देता है। अतः मुनि धर्म को पहले प्रकाशन करना चाहिए उसके बाद श्रावक धर्म का कथन करना चाहिये।

उपदेश ग्रहण करने वाले पात्र का कर्त्तव्य

एवं सम्यग्दर्शन बोध-चारित्र त्रयात्मको नित्यम्।
तस्याऽपि मोक्षमार्गो, भवति निषेव्यो यथाशक्ति।। 20।।

And, for him also the three-fold of liberation, consisting of the right belief, right knowledge, and right conduct is to be constantly followed according to this capacity.

व्याख्या-अनुवाद : आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है। अतः मोक्ष मार्ग तथा मोक्ष भी रत्नत्रयात्मक है। इसलिए मोक्ष के लिए रत्नत्रय की आराधना यथाशक्ति करनी चाहिए। परन्तु गुरुओं को निश्चय मोक्ष मार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करना चाहिए। इसलिए गुरु को क्रम कथन को यथाशक्ति उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति अक्रम कथन से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मोक्ष मार्ग का निषेध हो जाता है क्योंकि आत्मा सदैव रत्नत्रयात्मक है।

समीक्षाः मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मागग रत्नत्रय ही है। अनंत अनंतशिष्यों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनन्त ज्ञान को प्राप्त करके पूर्ण रूप प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे

व्यतिरिक कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्य प्रवर समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।। 3।।

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है ऐसे धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताये हैं। आचार्य उमास्वामी ने भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताया है कि-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।।1।। (तत्वार्थ सूत्र)

Right beilef (right) knowledge (right) conduct, these (to gether consitute) the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक (रत्नत्रयः) मोक्ष का मार्ग है।

"Self-reverence, self knowledge and self control.
These three alone lead life to savereign power."

अविणिच्छिओ च समयं तह तह सिद्धंतपडिणीओ।। (66)

जो आचार्य स्व-समय रूप सिद्धात नहीं जानते हैं परन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के ज्ञाता) होते हैं वे मूलतः तत्त्व निर्णय के अभाव में शिष्य समूह से घिर जाते हैं और शनैः शनैः उनका जीवन सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है।। अतएव ऐसे आचार्य को सिद्धान्त का शत्रु कहा गया है।

''चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कवावारा।
चरण करणस्स सारं णिच्छुयसुद्धं ण याणंति।। (67)''

जो जीव विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान चारित्र रूप निश्चय मोक्ष मार्ग से निरपेक्ष होकर केवल व्रत, नियमादि शुभचरण रूप व्यवहार नय को ही मोक्ष मार्ग मानते हैं वे देवलोक आदि की क्लेश-परम्परा को भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण युक्त निश्चय मोक्षमार्ग को मानता है तथा साधन-शक्ति सम्पन्नता के अभाव में निश्चय साधक शुभाचरण करते हैं तो वे सराग सम्यग्दृष्टि परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु जीव

केवल निश्चयनयावलम्बी हैं, वे व्यवहार रूप क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जानकर स्वच्छन्द हो न निश्चयपद पाते हैं और न व्यवहार को ही प्राप्त करते हैं, वे महान् आलसी हैं।

आचरण का सार परमतत्त्व की उपलब्धि करना है, परमात्मा बनना है। किन्तु शुद्धात्मा को जाने बिना यह जीव मोक्ष-मार्ग का पथिक नहीं बन सकता है। केवल व्रत नियमादि के परिपालन के शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। जो शुद्ध आत्मा को आगम से जानकर उसका चिन्तन-मनन, शुद्ध, अनुभव तथा अभ्यास करते हैं वे ही निश्चय शुद्ध आत्मा को जान सकते हैं।

प्रवचनसार में कहा है कि जिसकी आगम में श्रद्धा नहीं है वह श्रमण नहीं है श्रमणाभास हैं-

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।। (236)

इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है, और जो असंयत है, वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

दण्डत्तय सल्लत्तय मण्डियमाणो असूयगो साहू।
भण्डण जायणस शीलो हिण्डइ सो दीहे संसारे।।(105) रयणसार

मनोदण्ड, वचन दण्ड, काय दण्ड, मन, वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति का होना मिथ्या शल्य, माया शल्य, निदान शल्यों से सहित ईर्ष्यावान् परस्पर में बात बात पर झगड़ा करने वाला, याचना करने में कुशल है वह साधु दीर्घ संसार में जन्ममरण करता हुआ भ्रमण करता है।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कषाय संजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।। (106)

जो साधु शरीर को कान्तिवान, बलवान, सुन्दर, चमकीला बनाने में आसक्त हैं भोगों से ग्रस्त हैं क्रोधादि कषायों से युक्त हैं आत्मभाव के विषय में सोऐ हुए हैं अनभिज्ञ हैं वे साधु सम्यक्त्व के बहिर्भूत हैं।

आरम्भे धण धाण्णे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया।

वयगुण शल विहीणा कषाय कलहप्पिया मुहरा।। (107)
संघविरोह कुशला सच्छंदा रहितय गुरुकुला मूढ़ा।
रामाइसेवया ते जिण धम्मविराहिया साहू।। (108)

जो साधुजन खेती करवाने, अग्नि जलवाने, जमीन खुदवाकर बावड़ी, तालाब, कुआँ खुदवाना पानी खेतों में सिंचवाना इत्यादि व्यापारों में रुचि रखने वाले गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा रखने में जौ, ज्वार, गेहूँ संग्रह करने, मेरा कमण्डलु का रंग सबसे सुन्दर हो, मेरी पीछी सबसे बड़ी और सुन्दर हो, मेरी पुस्तकें स्वच्छ नवीन समान हो ऐसी इच्छा रखने वाला उसी प्रकार दूसरे साधुओं के प्रति ईर्ष्या रखने वाला, व्रत गुण शीलों से रहित के समान आचरण करने वाला, कषाय सहित जिनको कलह करना ही प्रिय हो, जो विशेष कुछ न कुछ बोलता ही रहता हो, संघ से विरोध करने में चतुर, स्वच्छन्द, अपने मन मुताबिक आचरण करने वाला दीक्षा गुरु की परम्परा को न मानने वाला, अज्ञानी मिथ्याचारी राजा, मंत्री इत्यादि की सेवा करने वाले इन आचारों से युक्त साधु जैन धर्म की विराधना करने वाले हैं।

जोइस विज्जामंत्तोपजीवणं वायवस्स ववहारं।
धण धण्णं पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होई।। (109)

ज्योतिष्य देखकर लग्न पत्रिका देखना, मुहूर्त, शुभ, अशुभ समय बताना, ग्रह नक्षत्रों की चाल बताना, मंत्र तंत्र बताकर आहार लेना, अपना जीवन व्यतीत करना धन-धान्यादि प्रतिग्रहण करना भूत प्रेतादि का झाड़ा देना और अनेक प्रकार के व्यवहारों में कुशल साधुओं को दोष होता है।

जे पावारम्भरया कषायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहार पउरा ते साहू सम्मउमुक्का।। (110)

जो साधु पापारम्भ में रत है, कषायों से सहित है, परिग्रहों में आसक्त हैं, लोक व्यवहार में प्रचुर हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।

चम्मट्ठिमंस लवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिदिट्ठा।
जह पापिट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा।। (111)

जैसे चर्म, माँस, हड्डी खाने का लोभी कुत्ता दूसरे कुत्तों को देखकर गर्जन करता है वैसे ही दुरात्मा धर्मात्मा को मुनिराजों को देखकर अपने स्वार्थ की सिद्धि

करता है।

लौकिक जन का लक्षण-

णिग्गुंथो पव्वइदो वट्टइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि।। (269) प्र.सा.

If a monk after becoming a Nirgrantha ascetic, Still dabbles in wordly professions (like palmistry etc.) he is called a worldly man (or a commoner), even though he is endowed (extrenally) with selfcontrol and austerties.

जिसने वस्त्रादि परिग्रह को त्याग कर व मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने वाले भाव जो अपनी प्रसिद्धि, बढ़ाई व लाभ के बढ़ाने के कारण ज्योतिषकर्म, मंत्र, यंत्र वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के उपायरूप व्यापारों के द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तप को धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है।

परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रवज्या की प्रतिज्ञा लेकर जो जीव संयम तप के भार को वहन करता है वह भी, यदि मोह की बहुलता के कारण शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार में चक्कर खाने से लौकिक कर्मों को करता हो तो लौकिक कहा जाता है।

समीक्षा : कुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में श्रमणाभास या लौकिक श्रमण का वर्णन किया है। उन्होंने केवल गृह व्यापार में लिप्तजनों को ही लौकिक नहीं कहा परन्तु निर्ग्रन्थ होकर भी जो आत्म कल्याण को छोड़कर बाह्य कार्यों में रत रहता है उस श्रमण को भी लौकिक कहा है। श्रमण का अर्थ है जो आत्मा के लिए रागद्वेष आदि भावों से रहित होकर आत्मा के लिए सतत श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं इन्हें साधु कहते हैं। कहा भी है -

मानमायामदामर्ष क्षपणात्क्षपणः स्मृतः।
यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधा।। (402) य. ति.

गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु क्षपण कहा गया है और अनेक स्थानों में इर्या समिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता

इसलिए विद्वान उसे श्रमण कहते हैं।

निर्ममोनिरहंकारो निर्माणमदमत्सरः।

निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः।। (409)

जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है जो मान-मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय है और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि युक्त (राग द्वेष शून्य) है अर्थात् जो अपनी निन्दा करने वाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करने वाले मित्र से राग नहीं करता अतः उसे समधी कहते हैं। समनतभद्र स्वामी ने कहा भी है -

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। (10 र.श्रा.)

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान ध्यान तथा तप रूपी रत्नों से सहित हो वह गुरु प्रशंसनीय है।

जीव अनादिकाल से स्वभाव से बहिर्मुख होकर विभाव में रच रहा है, पच रहा है, रमण कर रहा है। इसे ही संसार/भवभ्रमण/पर परिणति कहते हैं। इस समय में जो परिणति/ज्ञान होती है वह स्वरूप रूप से विपरीत होती है। इसलिए मोक्ष की गति इससे विपरीत है मुमुक्ष की गति/प्रवृत्ति संसारिक लोगों की गति से विपरीत होना स्वाभाविक है इसलिए तो अमृतचंद सूरी ने कहा है -

अनुसरतां पदमेतत् करंविताचार नित्यानिराभिमुखा।

एकांतविरतिरुपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः।। (16) (पु.सि.)

इस पद को अनुसार करने वाले अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुए मुनियों को पाप मिश्रित आचार से सदा पराङ्मुख (सर्वथा त्यागरूप लोक) को अतिक्रम किए हुए वृत्ति होती है।

ऐसे महाश्रमणों की हर क्रिया हर आचार-विचार स्व आत्मकल्याण को लक्ष्य करके होते हैं वे कोई भी कार्य इनके विपरीत न करते हैं, न करवाते हैं न अनुमोदन करते हैं। दशवैकालिक में कहा भी है -

आचार समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे (1) इहलोक के निमित्त आचार के पालन नहीं करना चाहिए। (2) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना

चाहिए। (3) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। परन्तु उपरोक्त भावना से रहित जो अन्य किसी भी लौकिक भावना से प्रेरित होकर धर्म करते हैं उनका धर्म धर्माभास है एवं वह श्रमण भी श्रमणाभास है। पंचमकाल में कुछ विशेष लौकिक प्रयोजन से धर्म करते हैं। यथा

भयं दाक्षिण्य कीर्ति व लज्जया आशा तथ्यैव च।
पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभव से (2) अपनी योग्यता को प्रदर्शन के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे।

जो मुनि लिंग को धारण करके भी सिद्धि को छोड़कर प्रसिद्धि में लग जाते हैं, प्रभावना के नाम पर भावना से रत रहते हैं स्वनिर्माण को छोड़कर भौतिक निर्माण (धर्मशाला, संस्था) में लगे रहते हैं, नीहित स्वार्थ के लिए चमत्कार के प्रदर्शन के लिए भौतिक उपार्जन के लिए लोक प्रसिद्धि लोकसंग्रह के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र में लगे रहते हैं, वे भी श्रमणाभास हैं। ज्ञानार्णव में ध्यान के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है -

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः।। (46)
अनुद्धतमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने।। (47)

जो लोगों को रंजित करने वाला पापरूप कार्यो के गुरुता को प्राप्त हैं नहीं रंजित हुआ है आत्मा में चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रियों के विषयों की गहनता में लीन हैं, जिनने मन के शल्य को दूर नहीं किया है तथा अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है और अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है ऐसे पुरुष ध्यान साधन में निषेधित है। क्योंकि इनमें ध्यान की योग्यता नहीं है।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः।। (48)
अनुधुक्तास्तपः कर्तु विषयग्रासलालसाः।
ससङ्गा शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः।। (49)

एते तृणीकृतस्वार्थी मुक्तिश्रीसङ्गनिः स्पृहाः।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं।। (50)

जो हास्य, कौतूहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृत्ति के शास्त्रों का उपदेश करने वाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोग से जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) हैं, विकाररूप है और मोहरूप निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट हो गयी है, जो तप करने को उद्यमी नहीं है, विषयों की जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित हैं, वस्तु का निर्णय जिनको नहीं है तथा जो भयभीत है, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष देव के द्वारा ठगे गये हैं फिर ऐसे पुरुषों से ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषों ने अपने हित को तृण के समान समझ लिया है तथा मुक्ति रूपी स्त्री के संगम करने से निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यान के अन्वेषण करने को क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

पापभिचारकर्म्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।
यैः क्रियन्तेऽधर्मर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं।। (51)

जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिक में लंपट है, मोह से पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिए आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि हाय! हाय! इन्होंने अपने जीवन का नाश और अपने को संसारसमुद्र में डूबा दिया। वे पापभिचार कर्म कौन-कौन से हैं, सो कहते हैं-

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। (52)
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।। (53)
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिस्त्रंशभूतभोगीन्द्रसाधनं।। (54)
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।। (55)

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि, विष का

स्तंभन रसकर्म रयासन। नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधना, सेना का स्तंभन करना, जीतहार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, वेधना, ज्योतिष का ज्ञान वैद्यकविद्यासाधन। यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतने का मंत्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश वा जल में विहार करने की विद्या) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखने के अञ्जन साधना, शस्त्रादिक का साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करने वाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः।। (56)
निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे।। (57)

कई निर्दय निर्लज्ज साधुपन में भी अतिशय निंदा करने योग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं तैसे ही जो मुनि हो कर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।
मुक्त्यङ्ग लिङ्गमादाय न श्लाघ्य लोकदम्भनं।। (58)

जो गृहस्थावस्था में हैं, उनको तो ऐसी अविद्या का आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्ति के अंगस्वरूप मुनि के भेष को धारण करके लोक का ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतुम्।
हेयमेवाशुभं कार्य विवेच्य सुहितं बुधैः।। (59)

मनुष्यपन पा कर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानों को अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिए।

अहोविभ्रान्तचित्तानां पश्यपुंसां विचेष्टितम्।
यत्प्रपञ्जैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम्।। (60)

आचार्य महाराज कहते हैं कि देखो भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपन में पाखंड प्रपंच करके जन्म को निष्फल कर देती है।

लिंग पाहुड़ में तो कुन्दकुन्दाचार्य ने भ्रष्ट श्रमण को तीर्यंचादि शब्द से सम्बोधन करके कटु प्रहार किया है। यथा -

धम्मेण होइ लिंग ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। (2)

धर्म से ही लिङ्ग होता है, लिङ्गमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है इसलिए भाव को धर्म जानो भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या कार्य है?

जो पावमोहिदमदी लिंगं धेतूण जिणवरिदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णासेदि लिंगीणं।। (3)

जिसकी बुद्धि पाप से मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देव के लिङ्ग को नग्न दिगम्बर वेष को ग्रहण कर लिङ्गी के यथार्थ भाव की हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेष को नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरुवणे।। (6)

जो पुरुष मुनि लिङ्ग का धारक होकर निरन्तर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वाद-विवाद करता है, अथवा जुआ खेलता है यह चूंकि लिङ्ग से ऐसे कुकृत्य करता है, अतः पापी है और नरक जाता है।

जो जोऽदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजविघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाओ लिंगिरुवणे।। (9)

जो मुनि का लिङ्ग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूँकि मुनिलिङ्ग के द्वारा कुकृत्य को करता है अतः पापी और नरक जाता है।

कंदप्पा इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माईलिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। (12)

जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है वह मायाचारी, मुनिलिङ्ग करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊणः भुंजदे पिंड।
अवरुपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। (13)

जो आहार के निमित्त दौड़ता है कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

गिण्हदिं अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धार तो चोरेण व होइ सो समणो।। (14)

जो मनुष्य जिन लिङ्ग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा लगा कर दूसरों की निन्दा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वटट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो सवणो।। (18)

जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सवणो।। (19)

हे मुनिवर! ऐसी खोट प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमी जनों के मध्य में रहता है और बहुत ज्ञानवान भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है अर्थात् भावलिङ्ग से रहित है यथार्थ मुनि नहीं है।

आत्मविशुद्धि बिन बाह्य तप त्याग संयम से मोक्ष नहीं

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति से ......)

केवल बाह्य तप त्याग संयम से नहीं होता आत्मकल्याण।
जब तक न होती आत्मविशुद्धि आत्म श्रद्धान युक्त आत्म ज्ञान।।1।।

राग द्वेष मोह काम क्रोध व ईर्ष्या तृष्णा घृणादि रहित भाव।
होती है आत्म विशुद्धि ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व रहित भाव।।2।।

आत्मश्रद्धान होता जब होता है श्रद्धान स्व शुद्धात्मा (का)
मैं हूँ निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-आनन्द स्वरूप परमात्मा।। 3।।
किन्तु अनादि कर्म के कारण बना हँ अशुद्ध संसारी आत्मा।
अभी मैं स्व-आत्म साधना से लक्ष्य बना हूँ बनना परमात्मा।।4।।

इस हेतु होता है देवशास्त्र गुरु व द्रव्य-तत्त्व का भी सही श्रद्धान।
तदनुकूल होता है सम्यग्ज्ञान, निश्चय-व्यवहार नय प्रमाण।।5।।
दोनों से सहित होता है श्रावक या श्रमण धर्म पालन।
शक्ति हो तो श्रमण धर्म अन्यथा पालन होता श्रावक धर्म।।6।।

आत्म श्रद्धान ज्ञान चारित्र बिन बाह्य तप त्याग संयम से न होता मोक्ष।
यथा बीज के बिन केवल मृदाजल वायु सूर्य किरण से न होता वृक्ष।।7।।

आत्मविशुद्धि से ही होते हैं कर्म संवर-निर्जरा व मोक्ष।
अतएव आत्म विशुद्धि ही मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रमुख कारण।।8।।
आत्म विशुद्धि बिन होता है 'बाह्यतप' या मिथ्या साधना।
यह है सर्वज्ञ द्वारा कथित सत्य 'कनक' करे आत्म साधना।।9।।

सागवाडा 28.05.2018 प्रातः 07:52

स्व-आत्मश्रद्धान ज्ञानाचरण करूँ अन्यथा संयम-तप-श्रुत युक्त भी व्यर्थ

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे... सोयानारा...)

आत्मन्! तू स्व-श्रद्धान/(ज्ञान) कर ऽऽऽ
स्व श्रद्धान व ज्ञानानुसार...चारित्र भी पालन कर ऽऽऽ (ध्रुव)
इस हेतु कर श्रद्धान-ज्ञान...देव शास्त्र-गुरु का भी ऽऽऽ
द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ सहित...निश्चय व्यवहारनय से भी ऽऽऽ

स्व-आत्म कल्याण प्रधान ही ऽऽऽ आत्मन्। (1)

यथा बीज बिना न सम्भव है...अंकुर से वृक्ष-फूल-फल ऽऽऽ
अणु बिना यथा न सम्भव है...स्कन्ध से ले ग्रह-नक्षत्र ऽऽऽ
जल-वायु-मृदा से ले शरीर ऽऽऽ आत्मन् (2)

तथाहि तुझे स्व-आत्म श्रद्धान बिन...न होगा स्व-आत्म ज्ञान ऽऽऽ
दोनों के बिना न होगा आत्मानुचरण...जिससे न होगा आत्मानुभवऽऽऽ
इसके बिना न मिलेगा परिनिर्वाण ऽऽऽ आत्मन् (3)

आत्म श्रद्धान बिन न होगा श्रद्धान...देव-शास्त्र-गुरु का भी यथार्थ ऽऽऽ
यथा भव्यसेन मुनि या अभव्य जीव...न कर पाते आत्मश्रद्धानऽऽऽ
जिससे उन्हें न मिलेगा कभी निर्वाण ऽऽऽ आत्मन्।। (4)

इस हेतु त्यागो राग-द्वेष-मोह...ईर्ष्या-तृष्णा-काम-मद ऽऽऽ
समता-शुचिता-सहिष्णुता भज..निस्पृह-निराडम्बर-विराग ऽऽऽ
आत्मानुभव-आत्मानुचिन्तन कर ऽऽऽ आत्मन्। (5)

आत्मश्रद्धान बिन तप-त्याग भी...न बनते निर्वाण कारण ऽऽऽ
मिथ्यादृष्टि नारकी सहन करते...भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी-रोगऽऽऽ
तथापि उन्हें न मिलता निर्वाणऽऽऽ आत्मन्। (6)

तथाहि पशु-पक्षी-कीट-पतंग...वृक्ष-लतादि सहते नाना कष्ट ऽऽऽ
गुलाम-दोषी-बन्दी-अभाव जीव...सहन करते हैं विविध दुःख ऽऽऽ
आत्मश्रद्धान बिन बन्धे पाप कर्म ऽऽऽ आत्मन्।। (7)

आत्मश्रद्धान बिन करोड़ों भव में भी...मुनि बनने से भी न मिले मोक्ष।
करोड़ों भवों में अज्ञानी जो कर्म नाशे...ज्ञानी मुनि क्षणमात्र में करे विनाश ऽऽऽ
आत्मज्ञान-ध्यान में हो लवलीन ऽऽऽ आत्मन्।। (8)

शक्ति अनुसार बाह्य तप-त्याग कर...ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व मुक्त ऽऽऽ
आरम्भ-परिग्रह याचना रहित...भौतिक निर्माण-रक्षण रहित ऽऽऽ
पर निंदा-पर प्रपंचों से रहित ऽऽऽ आत्मन्।। (9)

आत्मविशुद्धि हेतु चक्रवर्ती भी...साधु बनकर करते आत्मध्यान ऽऽऽ

ऋद्धिधारी व तीर्थंकर मुनि भी...आत्मसाधना हेतु न करते बाह्य काम।
यथा शक्ति आत्मा का कर अनुकरण ऽऽऽ आत्मन्।। (10)

अन्यथा तेरे सभी तप-त्याग-ज्ञान...होंगे केवल बाह्य आडम्बर ऽऽऽ
इससे होगा आत्मपतन व धर्म विराधना...व्यापार व राजनीति सम कामऽऽऽ
'कनक' करो तू आत्मसाधना ऽऽऽ
/ (न करो आत्मा / (धर्म) की विराधना ऽऽऽ आत्मन्।। (11)

सागवाड़ा दि. 22.09.2018 रात्रि 09:02

सन्दर्भ-

भावार्थ - यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादि से विरक्त होकर आतापन से विराजमान थे परन्तु मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ, इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहने से केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब उनके हृदय से उक्त प्रकार का मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंतरंग की उज्ज्वलता के बिना केवल बाह्य त्याग से कुछ नहीं होता।।44।।

महुपिंगो णाय मुणी देहा हारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो, णियाणमित्तेण भवियणुव।। 45।। (अष्टपाहुड़)

हे भव्य जीवों के द्वारा नमस्कृत मुनि! शरीर तथा आहार का त्याग करने वाले मधुपिंग नामक मुनि निदानमात्र से श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए थे।

अण्णं च वसिट्ठमुणी, पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।। 46।। (भावपाहुड़)

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदानमात्र से दुःख को प्राप्त हुए थे। लोक में वह निवासस्थान नहीं है जहाँ इस जीव ने भ्रमण न किया हो।

सो णत्थि तं पएसो, चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।।47।।

हे जीव! चौरासी लाख योनि के निवास में वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ अन्य की बात जाने दो, भावरहित साधु ने भ्रमण न किया हो।

भावेण होइ लिंगी, ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।

तम्हा कुणिज्ज भावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण।।48।।

मुनि भाव से ही जिनलिंगी होता है, द्रव्यमात्र से जिनलिंगी नहीं होता। इसलिए भावलिंग ही धारण करो, द्रव्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है?

दंडअणयरं सयलं, डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।

जिणलिंगेण वि बाहू, पडिओ सा रउरवे णरये।।49।।

बाहु मुनि जिनलिंग से सहित होने पर भी अंतरंग के दोष से दंडक नामक समस्त नगर को जलाकर रौरव नामक नरक में उत्पन्न हुआ था।।

अवरो वि दव्वसवणो, दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।

दीवायणुत्ति णामो, अणंतसंसारिओ जाओ।।50।।

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिंगी श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनंतसंसारी हुआ।

भावसमणो य धीरो, जुवईजणवेड्ढिओ विसुद्धमई।

णामेण सिवकुमारो, परीत्तसंसारिओ जादो।।51।।

भावलिंग का धारक धीर वीर शिवकुमार नाम का मुनि युवतिजनों से परिवृत होकर भी विशुद्धहृदय बना रहा और इसीलिए संसारसमुद्र से पार हुआ।

अंगाइं दस य दुण्णि य, चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।

पढिओ अ भव्वसेणो, ण भावसवणत्तणं पत्तो।।52।।

भव्यसेन नामक मुनि ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ लिया तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ।

तुसमासं घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।

णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ।।53।।

यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि विशुद्ध भावों के धारक और अत्यन्त प्रभाव से युक्त शिवभूति मुनि 'तुषमाष' पद को घोकते हुए...याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये।

भावेण होइ णग्गो, बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।

कम्मपयडीयणियरं, णासइ भावेण दव्वेण।।54।।

भाव से ही निर्ग्रंथ रूप सार्थक होता है, केवल बाह्यलिंगरूप नग्न मुद्रा से क्या

प्रयोजन है? कर्म प्रकृतियों का समुदाय भावसहित द्रव्यलिंग से ही नष्ट होता है।

णग्गत्तणं अकज्जं, भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।

इय णाऊण य णिच्चं, भाविज्जहि अप्पयं धीर।।55।।

जिनेन्द्र भगवान् ने भावरहित नग्नता को व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्मा की भावना कर।

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।

अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू।।56।।

जो शरीरादि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।

आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइं वोसरे।।57।।

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त होकर ममता बुद्धि को छोड़ता हूँ और आत्मा ही मेरा आलंबन है, इसलिए अन्य समस्त पदार्थों को छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा में संवरे जोगे।

आदा पच्चक्खाणे, आदा में संवरे जोगे।।58।।

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर और योग में आत्मा है।

एगो में सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।59।।

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्य के संयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं...मुझसे पृथक् हैं।

भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।

लहु चउगइ चइऊणं, जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।।60।।

हे भव्य जीवो! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यन्त पवित्र और निर्मल आत्मा की भावना करो।

जो जीवो भावंतो, जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।

जो जरमरणविणासं, कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।।61।।

जो जीव अच्छे भावों से सहित होकर आत्मा के स्वभावका चिंतन करता है वह जरामरण का विनाश करता है और निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

जीवो जिणपण्णत्तो, णाणसहाओ य चेयणासहिओ।

सो जीवो णायव्वो, कम्मक्खयकारणणिमित्तो।।62।।

जीव ज्ञानस्वभाववाला तथा चेतनासहित है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षयका कारण जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।

ते होंति भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमतीदा।।63।।

जिसके मनमें जीव का सद्भाव है उसका सर्वथा अभाव नहीं है। वे शरीर से भिन्न तथा वचन के विजय से परे होते है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणसद्दं।

जाणमलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।64।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है, इंद्रियों के द्वारा अग्राह्य है और आकाररहित है उसे जीव जान।

भावहि पंचपयारं, णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।

भावणभावियसहिओ, दिवसिवसहुभायणो होइ।।65।।

हे जीव! तू अज्ञान का नाश करने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान की शीघ्र ही भावना कर। क्योंकि ज्ञानभावना से सहित जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है।

पढिएणवि किं कीरइ, किंवा सुणिएण भावरहिएण।

भावो कारणभूदो, सायारणयारभूदाणं।।66।।

भावरहित पढ़ने अथवा भावरहित सुनने से क्या होता है? यथार्थ में भाव ही गृहस्थपने और मुनिपनेका कारण है।

दव्वेण सयलणग्गा, सारयतिरिया य सयलसधाया।

परिणामेण असुद्धा, ण भावसवणत्तणं पत्ता।।67।।

द्रव्य सभी रूप ये नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचों का समुदाय भी नग्न रहता है, परंतु परिणामों से अशुद्ध रहने के कारण भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।

णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं।।68।।

जो नग्न जिनभावना की भावना से रहित है वह दीर्घकालतक दुःख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रय को नहीं प्राप्त करता है।

अयसाण भायणेण य, किंते णग्गेण पावमलिगेण।

पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।।69।।

हे जीव! तुझे उस नग्न मुनिपने से क्या प्रयोजन? जो कि अपयशका पात्र है, पाप से मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से परिपूर्ण है।

पयडहिं जिणवरलिंगं, अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।

भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई।।70।।

हे जीव! तू अंतरंग भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनमुद्रा को प्रकट कर--धारण कर। क्योंकि भावदोष से दूषित जीव बाह्य परिग्रह के संग में अपने आपको मलिन कर लेता है।

धम्ममि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।

णिप्फलणिग्गुणयारो, णउसवणो णग्गरूवेण।।71।।

जो धर्म से प्रवास करता है-धर्म से दूर रहता है, जिसमें दोषों का आवास रहता है और जो ईख के फूल के समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्न रूप में रहने वाला नट श्रमण है--साधु नहीं, नट है।

जे रायसंगजुत्ता, जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।

ण लहंति ते समाहिं, बोहिं जिणसासणे विमले।।72।।

जो मुनि रागरूप परिग्रह से युक्त हैं और जिनभावना से रहित केवल बाह्य रूप में निर्ग्रंथ हैं--नग्न हैं वे पवित्र जिनशासन में समाधि और बोधि--रत्नत्रय को नहीं पाते हैं।

भावेण होइ णग्गो, मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।

पच्छा दव्वेण मुणी, पयडदि लिंगं जिणाणए।।73।।

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से-अंतरंग से नग्न होता है और पीछे जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से बाह्यलिंग--बाह्य वेष को प्रकट करता है।

भावो हि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।

कम्ममलमलिणचित्तो, तिरियालयभायणो पावो।।74।।

भाव ही इस जीव को स्वर्ग और मोक्ष के पात्र बनाता है। जो मुनि भाव से रहित है वह कर्मरूपी मैल से मलिन चित्त तथा तिर्यंच गति का पात्र तथा पापी है।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।

चक्कहररायलच्छी, लब्भइ बोही सुभावेण।।75।।

उत्तम भाव के द्वारा विद्याधर, देव और मुनष्यों के हाथों के अंजुलि से स्तुत बहुत बड़ी चक्रवर्ती राजा की लक्ष्मी और रत्नत्रयरूप संपत्ति प्राप्त होती है।

भावं तिविहपयारं, सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।

असुहं च अट्टरुद्दं, सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।।76।।

भाव तीन प्रकार के जानना चाहिए--शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त और रौद्र को अशुभ तथा धर्म्य ध्यान को शुभ जानना चाहिए। ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

सुद्धं सुद्धसहावं, अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।

इदि जिणवरेहिं भणियं, जं सेयं तं समायरह।।77।।

शुद्ध स्वभाव वाला आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा में ही लीन रहता है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। इन तीन भावों में जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर।

पयलियमाणकसाओ, पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।

पावइ तिहुयणसारं, बोही जिणसासणे जीवो।।78।।

जिसका मानकषाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोह के नष्ट होने से जिसका चित्त इष्ट अनिष्ट विषयों में समरूप रहता है ऐसा जीव ही जिनशासन में त्रिलोक श्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करता है।

विसयविरत्तो सवणो, छद्दसवरकारणाइं भाऊण

तित्थयरणामकम्मं, बंधइ, अइरेण कालेण।।79।।

विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन कर थोड़े ही समय में तीर्थंकर प्रकृति बंध करता है।

पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो।।83।।

पूजा आदि शुभ क्रियाओं में व्रत सहित जो प्रवृत्ति है तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासन में जिनेंद्र भगवान् ने कहा है।

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।84।।

जो मुनि पुण्य का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोग का ही कारण है, कर्मों के क्षय का कारण नहीं है।

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।85।।

रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है वह संसार समुद्र से पार होने का कारण धर्म है ऐसी श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि, पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।।86।।

जो मनुष्य आत्मा की इच्छा नहीं करता-आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं करता वह भले ही समस्त पुण्यक्रियाओं को करता हो तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है।

एएण कारणेण य, तं अप्पा सद्दहेहि तिविहेण।
जेण य लभेह मोक्खं, तं जाणिज्जह पयत्तेण।।87।।

इस कारण तुम मन वचन काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसिक्थो, असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्चं।।88।।

अशुद्ध भावों का धारक शालिसिक्थ नामका मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरंतर आत्मा में जिनदेव की भावना कर।

बाहिरसंगच्चाओ, गिरिसरिदरिकंदराइं आवासो।
सयलो णाणज्झयणो, णिरत्थओ भावरहियाणं।।89।।

भावरहित मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदि में निवास और ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन यह सब व्यर्थ है।

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं, बाहिरवयवेस तं कुणसु।।90।।

तू इंद्रियरूपी सेना को भंग कर और मनरूपी बंदर को प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रत के वेष को धारण करनेवाले! तू लोगों को प्रसन्न करनेवाले कार्य मत कर।

सव्वविरओ वि भावहि, णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी, चउदसगुणठाणणामाइं।।97।।

हे मुनि! यद्यपि तू सर्वविरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानों का चिंतन कर।

विणयं पंचपयारं, पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं, तत्तो मुत्तिं ण पावंति।।104।।

हे मुनि! तू मन, वचन, कायरूप योग से पाँच प्रकार के विनय का पालन कर, क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्ति को नहीं पाते हैं।

जं किंचि कयं दोसं, मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे, गारव मायं च मोत्तूण।।106।।

हे मुनि! अशुभ भाव से मन, वचन, काय के द्वारा जो कुछ भी दोष तूने किया हो, गर्व और माया छोड़कर गुरु के समीप उसकी निंदा कर।

दुज्जणवयणचउक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं, भावेण य णिम्मया सवणा।।107।।

सज्जन तथा ममता से रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मल का नाश करने के लिए अत्यंत कठोर और कटुक दुर्जन मुनष्यों के वचन रूपी चपेटा को अच्छे भावों से सहन करते हैं।

पावं खवइ असेसं, खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं, पंससणीओ धुवं होई।।108।।

क्षमा गुण से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापों को नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्यों के द्वारा निंरतर प्रशंसनीय रहता है।

इय णाऊण खमागुण, खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं, वरखमसलिलेण सिंचेह।।109।।

हे क्षमागुण के धारक मुनि! ऐसा जानकर मन वचन काय से समस्त जीवों को क्षमा कर और चिरकाल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को उत्कृष्ट क्षमा रूपी जल से सींच।

श्रमणाभास का स्वरूप

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदापधाणे जिणक्खादे।। (264) प्र.सा.

It is Opined that one does not become a Sharmana, though endouled with moral discipline, austerities and scxiptural study, if he has no faith in the realities, the foremost of which is the soul, as preached by Jinas.

आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं:

(संजमतवसुत्तंतसंप्पजुत्तोवि) संयम, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होने पर भी (जदि) जो कोई (जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे गये। (आदपधाणे अत्थे) आत्मा को मुख्य करके पदार्थों को (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणोत्तिणहवदि मदो) वह साधु नहीं हो सकता है, ऐसा माना गया है। यदि साधु, संयम भी पालता हो, तप भी करता हो, शास्त्रज्ञान सहित भी हो परन्तु तीन मूढ़ता आदि सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों से रहित होकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य ध्वनि अनुसार गणधर द्वारा ग्रंथों में गुम्फित निर्दोष परमात्मा आदि पदार्थ समूह का श्रद्धान नहीं करता, रुचि नहीं रखता, मान्यता नहीं देता, वह श्रमण नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

समीक्षा: श्रमणाभास का अर्थ है श्रमण+आभास=श्रमणाभास अर्थात् जो श्रमण के जैसे दिखायी देता है परन्तु यथार्थ से श्रमण नहीं है जैसे मृगमरीचिका दूर से जल जैसी दिखाई देती है परन्तु जल नहीं है जलाभास है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,

सम्यक् चारित्र से युक्त ऐसे छट्ठे गुणस्थानवर्ती से लेकर आगे के जीव श्रमण हैं। छट्ठे गुणस्थान से नीचे अर्थात् पंचम गुणस्थान से लेकर प्रथम गुणस्थान तक बाह्य वेष को धारण करने वाला जीव श्रमणाभास है परन्तु यहाँ पर आचार्य श्री ने जिस श्रमणाभास को कहा है वह प्रथम गुणस्थानवर्ती श्रमणाभास के लिये कहा है और वही सबसे निकृष्ट श्रमणाभास है क्योंकि वहाँ सग्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र तीनों का अभाव है ऐसे जीव भले बाह्य में निर्ग्रन्थ हो या संयम, तप से युक्त हो तथापि वह श्रमणाभास ही है।

कुन्द-कुन्द देव ने समयसार में कहा भी है-

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।

तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू। (159) पृ. 155 समयसार

जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञ देव 'अज्ञानतप' और अज्ञान व्रत कहते हैं।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।

परमट्ठबाहिरा जेण तेण होंति अण्णाणी।। (160)

यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित है इसलिए वे सब अज्ञानी हैं।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता जिसमें तीन गुप्तियों का पालन हुआ करता है ऐसी परम-समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्ती है, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए और तपश्चरण करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि **परमट्ठ बाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** पूर्वोक्त भेदज्ञान के न होने वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते हैं इसलिए अज्ञानी होते हैं। फलतः अज्ञानियों को मोक्ष कैसे हो सकता है? हाँ, जो परमसमाधि स्वरूप भेदज्ञान से युक्त हैं, वे व्रत, नियम और शीलों को बिना धारण किये भी बाह्य-द्रव्य रूप तपश्चरण को न करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि वे पूर्वोक्त भेदज्ञान रूप परमार्थ से युक्त होते हैं, इसलिए वे ही ज्ञानी भी होते हैं और जब ज्ञानी होते हैं तो ज्ञानियों को मोक्ष होना ही चाहिए।

इस ही शास्त्र में श्रमणाभास का सविस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है इसलिए यहाँ इसका संक्षिप्तिकरण कर रहे हैं। सन्मति सूत्र में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी आगम हीन श्रमण, आगम श्रद्धा से हीन श्रमण का वर्णन करते हुए कहा है-

''तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसम्पायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था हंदि महाणं बिलंबेंति।। (65) (स.सू.पृ.162)

सिद्धान्त की प्ररुपणा तीन प्रकार से की गयी है शब्द रूप से ज्ञानरूप से और अर्थरूप से। जिनागम का वर्णन इन तीनों रूपों में किया गया है। इनमें शब्द से ज्ञान और ज्ञान से अर्थ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। यद्यपि अर्थ का स्थान सूत्र हैं, सूत्र ज्ञानपूर्वक अर्थ ज्ञान नहीं होता है। परन्तु केवल सूत्र के शब्दार्थ को जान लेने से वास्तविक अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। अर्थ का ज्ञान तो नयवाद को जानने से होता है। अतएव जिसने सूत्र जान लिया है, उसे नयार्थ भी जानना चाहिए। जिन्हें धर्म का अभ्यास नहीं है सिद्धान्त का भली भांति अर्थ ज्ञान नहीं है, ऐसे आचार्य वास्तव में जिन शासन की विडम्बना करते हैं।

''जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य।
अविणिच्छिओ च समयं तह तह सिद्धंतपडिणीओ।।'' (66)

जो आचार्य स्व-समय रूप सिद्धान्त नहीं जानते हैं परन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के ज्ञाता) होते हैं वे मूलतः तत्त्व निर्णय के अभाव में शिष्य समूह से घिर जाते हैं और शनैः शनैः उनका जीवन सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है। अतएव ऐसे आचार्य को सिद्धान्त का शत्रु कहा गया है।

''चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कावावारा।
चरण करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति।।'' (67)

जो जीव विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान चारित्र रूप निश्चय मोक्ष मार्ग से निरपेक्ष होकर केवल व्रत, नियमादि शुभाचरण रूप व्यवहार नय को मोक्ष मार्ग मानते हैं वे देवलोक आदि की क्लेश-परम्परा को भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण युक्त निश्चय मोक्षमार्ग को मानता है तथा साधन-शक्ति सम्पन्नता के अभाव में निश्चय साधक शुभाचरण करते हैं तो वे सराग सम्यग्दृष्टि परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु जो

जीव केवल निश्चयनयावलम्बी हैं, वे व्यवहार रूप क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जानकर स्वच्छन्द हो न निश्चयपद पाते हैं और न व्यवहार को ही प्राप्त करते हैं, वे महान् आलसी हैं।

आचरण का सार परमतत्त्व की उपलब्धि करना है, परमात्मा बनना है। किन्तु शुद्धात्मा को जाने बिना यह जीव मोक्ष-मार्ग का पथिक नहीं बन सकता है। केवल व्रत नियमादि के परिपालन से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। जो शुद्ध आत्मा को आगम से जानकर उसका चिन्तन-मनन, शुद्ध, अनुभव तथा अभ्यास करते हैं वे ही निश्चय शुद्ध आत्मा को जान सकते हैं।

प्रवचनसार में कहा है कि जिसकी आगम में श्रद्धा नहीं है वह श्रमण नहीं है श्रमणाभास है-

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।। (236)

इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है और जो असंयत है, वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

दण्डत्तय सल्लत्तय मण्डियमाणो असूयगो साहू।
भण्डण जायणस शीलो हिण्डइ सो दीह संसारे।।(105) रयणसार पृ.180

मनोदण्ड, वचन दण्ड काय दण्ड, मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का होना मिथ्या शल्य, माया शल्य, निदान शल्यों से सहित ईर्ष्यावान् परस्पर में बात बात पर झगड़ा करने वाला, याचना करने में कुशल है वह साधु दीर्घ संसार में जन्ममरण करता हुआ भ्रमण करता है।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कषाय संजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ताते साहू सम्मपरिचत्ता।। (106)

जो साधु शरीर को कान्तिवान, बलवान, सुन्दर, चमकीला बनाने में आसक्त हैं पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगों में आसक्त है क्रोधादि कषायों से युक्त है आत्मभाव के विषय में सोए हुए हैं अनभिज्ञ हैं वे साधु सम्यक्त्व के बहिर्भूत हैं।

आरम्भे धण धाण्णे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया।

वयगुण शल विहीणा कषाय कलहप्पिया मुहरा।।(107)

संघविरोह कुशला सच्छंदा रहितय गुरुकुला मूढ़ा।

रामाइसेवया ते जिण धम्मविराहिया साहू।। (108)

जो साधुजन खेती करवाने, अग्नि जलवाने, जमीन खुदवाकर बावड़ी, तालाब, कुआं खुदवाना पानी खेतों में सिंचवाना इत्यादि व्यापारों में रुचि रखने वाले गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा रखने में जौ, ज्वार, गेहूँ संग्रह करने, मेरा कमण्डलु का रंग सबसे सुन्दर हो, मेरी पीछी सबसे बड़ी और सुन्दर हो, मेरी पुस्तकें स्वच्छ नवीन समान हो ऐसी इच्छा रखने वाला उसी प्रकार दूसरे साधुओं के प्रति ईर्ष्या रखने वाला, व्रत गुण शीलों से रहित के समान आचरण करने वाला, कषाय सहित जिनको कलह करना ही प्रिय हो, जो विशेष कुछ न कुछ बोलता ही रहता हो, संघ से विरोध करने में चतुर, स्वच्छन्द, अपने मन मुताबिक आचरण करने वाला दीक्षा गुरु की परम्परा को न मानने वाला, अज्ञानी मिथ्याचारी राजा, मंत्री इत्यादि की सेवा करने वाले इन आचारों से युक्त साधु जैन धर्म की विराधना करने वाले हैं।

जोइस विज्जामंत्तोपजीवणं वायवस्स ववहारं।

धण धण्णं पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होई।। (109)

ज्योतिष्य देखकर लग्न पत्रिका देखना, मुहूर्त, शुभ, अशुभ समय बताना, ग्रह नक्षत्रों की चाल बताना, मंत्र तंत्र बताकर आहार लेना, अपना जीवन व्यतीत करना धन-धान्यादि प्रतिग्रहण करना भूत प्रेता का झाड़ा देना और अनेक प्रकार के व्यवहारों में कुशल साधुओं को दोष होता है।

जे पावारम्भरया कषायजुत्ता परिग्गहासत्ता।

लोयववहार पउरा ते साहू सम्मउमुक्का।। (110)

जो साधु पापारम्भ में रत है, कषायों से सहित हैं, परिग्रहों में आसक्त हैं, लोक व्यवहार में प्रचुर हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।

चम्मट्ठिमंस लवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिदिट्ठा।

जह पापिट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा।। (111)

जैसे चर्म, मांस, हड्डी खाने का लोभी कुत्ता दूसरे कुत्तों को देखकर गर्जन करता है वैसे ही दुरात्मा धर्मात्मा मुनिराजों को देखकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करता

है।

लौकिक जन का लक्षण-

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि।। (269) प्र.सा.

If a monk after becoming a Nirgrantha ascetic, Still dabbles in wordly professions (like palmistry etc.) he is called a worldy man (or a commoner), even though he is endowed (externally) with self control and austerties.

आगे लौकिक साधु जनका लक्षण बताते हैं-

(णिग्गंथं पव्वइदो) निर्ग्रन्थ पद की दीक्षा को धारता हुआ (जदि) यदि (ऐहिगेहि कम्मेहिं) लौकिक व्यवहार में (वट्टदि) वर्तता है (सो) वह साधु (संजमतवसंजुदोचावि) संयम और तप सहित है जो भी (लोगिगोदि भणिदो) लौकिक है, ऐसा कहा गया है।

जिसने वस्त्रादि परिग्रह को त्याग कर व मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने वाले भाव जो अपनी प्रसिद्धि, बढ़ाई व लाभ के बढ़ाने के कारण ज्योतिषकर्म, मंत्र, यंत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के उपायरूप व्यापारों के द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तप को धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यवहारिक कहा जाता है। परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रवज्या की प्रतिज्ञा लेकर जो जीव संयम तप के भार को वहन करता है वह भी, यदि मोह की बहुलता के कारण शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार में चक्कर खाने से लौकिक कर्मों को करता हो तो लौकिक कहा जाता है।

समीक्षाःकुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में श्रमणाभास या लौकिक का वर्णन किया है। उन्होंने केवल गृह व्यापार में लिप्तजनों को ही लौकिक नहीं कहा परन्तु निर्ग्रन्थ होकर भी जो आत्म कल्याण को छोड़कर बाह्य कार्यों में रत रहता है उस श्रमण को भी लौकिक कहा है। श्रमण का अर्थ है जो आत्मा के लिए रागद्वेष आदि भावों से रहित होकर आत्मा के लिए सतत श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं इन्हें साधु कहते हैं। कहा भी है-

मानमायामदामर्ष क्षपणात्क्षपणः स्मृतः।

यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः।। (402) य.ति.चम्पू.भा.2

गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु क्षपण कहा गया है और अनेक स्थानों में ईर्या समिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता इसलिए विद्वान उसे श्रमण कहते हैं।

निर्ममोनिरहंकारो निर्माणमदमत्सरः।
निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः।। (409)

जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है जो मान-मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय है और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि युक्त (राग द्वेष शून्य) है अर्थात् जो अपनी निन्दा करने वाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करने वाले मित्र से राग नहीं करता अतः उसे समधी कहते हैं। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। (10 र.श्रा.)

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान ध्यान तथा तप रूपी रत्नों से सहित हो वह गुरु प्रंशसनीय है।

जीव अनादिकाल से स्वभाव से बहिर्मुख होकर विभाव में रच रहा है, पच रहा है, रमण कर रहा है। इसे ही संसार/भवभ्रमण/पर परिणति कहते हैं। इस समय में जो परिणति/ज्ञान होती है वह स्वरूप रूप से विपरीत होती है। इसलिए मोक्ष की गति इससे विपरीत है मुमुक्षु की गति/प्रवृत्ति संसारिक लोगों की गति से विपरीत होना स्वाभाविक है इसलिए तो अमृतचंद्र सूरि ने कहा है-

अनुसरतां पदमेतत् करंविताचार नित्यानिराभिभुखा।
एकांतविरतिरुपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः।। (16) (पु.सि.)

इस पद को अनुसार करने वाले अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुए मुनियों को पाप मिश्रित आचार से सदा पराङ् मुख (सर्वथा त्यागरूप लोक) को अतिक्रम किए हुए वृत्ति होती है।

ऐसे महाश्रमणों की हर क्रिया हर आचार-विचार स्व आत्मकल्याण को लक्ष्य करके होते हैं वे कोई भी कार्य इनके विपरीत न करते है, न करवाते है न अनुमोदना

करते है। दशवैकालिक में कहा भी है-

चउविहा खलु आयार समाही भवइ तं जहा- (1) नो इहलोगट्ठयाएआयारमहिट्ठेज्जा (2) नो परलोगट्ठयाए आयार महिट्ठेज्जा, (3) नो कित्तिवण्णसददसिलोगट्ठयाए आचारमहिट्ठेज्जा (4) नन्नत्थ आहंतेहिं है ऊहिं आयारमहिट्ठज्जा।

आचार समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे (1) इहलोक के निमित्त आचार के पालन नहीं करना चाहिए। (2) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (3) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। परन्तु उपरोक्त भावना से रहित जो अन्य किसी भी लौकिक भावना से प्रेरित होकर धर्म करते हैं उनका धर्म धर्माभास है एवं वह श्रमण भी श्रमणाभास है। पंचमकाल में कुछ विशेष लौकिक प्रयोजन से धर्म करते हैं। यथा

भयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथ्यैव च।
पंचभि पंचमकाले जैन धर्मः प्रवर्तते।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय से (2) अपनी योग्यता को प्रदर्शन करने के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे।

जो मुनि लिंग को धारण करके भी सिद्धि को छोड़कर प्रसिद्धि में लग जाते हैं, प्रभावना के नाम पर भावना से रत रहते हैं स्वनिर्माण को छोड़कर भौतिक निर्माण (धर्मशाला, संस्था) में लगे रहते हैं, नीहित स्वार्थ के लिए चमत्कार के प्रदर्शन के लिए भौतिक उपार्जन के लिए लोक प्रसिद्धि लोकसंग्रह के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र में लगे रहते हैं, वे भी श्रमणाभास हैं। ज्ञानार्णव में ध्यान के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है -

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः।। (46)
अनुद्धतमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने।। (47)

जो लोगों को रंजित करने वाला पापरूप कार्यों के गुरुता को प्राप्त हैं नहीं रंजित हुआ है आत्मा में चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रियों के विषयों की गहनता में

लीन हैं, जिनने मन के शल्य को दूर नहीं किया है तथा अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है और अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है ऐसे पुरुष ध्यान साधन में निषेधित है। क्योंकि इनमें ध्यान की योग्यता नहीं है।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः।। (48)
अनुधुक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः।
ससङ्गा शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः।। (49)
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिः स्पृहाः।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं।। (50)

जो हास्य, कौतुहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृत्ति के शास्त्रों का उपदेश करने वाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोग से जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) हैं, विकाररूप है और मोहरूप निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट हो गयी है, जो तप करने को उद्यमी नहीं है, विषयों की जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित हैं, वस्तु का निर्णय जिनको नहीं है तथा जो भयभीत हैं, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष देव के द्वारा ठगे गये हैं फिर ऐसे पुरुषों से ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषों ने अपने हित को तृण के समान समझ लिया है तथा मुक्ति रूपी स्त्री के संगम करने से निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यान के अन्वेषण करने को क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

पापभिचारकर्म्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।
यैः क्रियन्तेऽधमैर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं।।(51)

जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिक में लंपट है, मोह से पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिए आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि हाय! हाय! इन्होंने अपने जीवन का नाश और अपने को संसारसमुद्र में डूबा दिया। वे पापभिचार कर्म कौन-कौन से हैं, सो कहते हैं-

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। (52)

पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।। (53)
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिस्त्रंशभूतभोगीन्द्रसाधनं।। (54)
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।। (55)

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि, विष का स्तंभन रसकर्म रसायन। नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधना, सेना का स्तंभन करना, जीतहार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, वेधना, ज्योतिष का ज्ञान वैद्यकविद्यासाधन। यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतने का मंत्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश वा जल में विहार करने की विद्या) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखने के अञ्जन साधना, शस्त्रादिक का साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करने वाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः।। (56)
निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे।। (57)

कई निर्दय निर्लज्ज साधुपन में भी अतिशय निंदा करने योग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।
मुक्त्यङ्ग लिङ्गमादाय न श्लाघ्य लोकदम्भनं।। (58)

जो गृहस्थावस्था में हैं, उनको तो ऐसी अविद्या का आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्ति के अंगस्वरूप मुनि के भेष को धारण करके लोक का ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतुम्।
हेयमेवाशुभं कार्य विवेच्य सुहितं बुधेः।। (59)

मनुष्यपन पा कर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानों को अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिए।

अहोविभ्रान्तचित्तानां पश्यपुंसां विचेष्टितम्।
यत्प्रपञ्जैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम्।। (60)

आचार्य महाराज कहते हैं कि देखो भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपन में पाखंड प्रपंच करके जन्म को निष्फल कर देती है।

लिंग पाहुड़ में तो कुन्दकुन्दाचार्य ने भ्रष्ट श्रमण को तीर्यंचादि शब्द से सम्बोधन करके कटु प्रहार किया है। यथा -

धम्मेण होइ लिंग ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। (2)

धर्म से ही लिङ्ग होता है, लिङ्गमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसलिए भाव को धर्म जानो भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या कार्य है?

जो पावमोहिदमदी लिंगं धेतूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णासेदि लिंगीणं।। (3)

जिसकी बुद्धि पाप से मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देव के लिङ्ग को नग्न दिगम्बर वेष को ग्रहण कर लिङ्गी के यथार्थ भाव की हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेष को नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरुवणे।। (6)

जो पुरुष मुनि लिङ्ग का धारक होकर निरन्तर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वाद-विवाद करता है, अथवा जुआ खेलता है यह चूँकि मुनि लिङ्ग से ऐसे कुकृत्य करता है, अतः पापी है और नरक जाता है।

जो जोऽदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजविघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाओ लिंगिरुवेण।। (9)

जो मुनि का लिङ्ग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूँकि मुनिलिङ्ग के द्वारा कुकृत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

कंदप्पा इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माईलिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। (12)

जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है वह मायाचारी, मुनिलिङ्ग करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊणः भुंजदे पिंड।
अवरुपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। (13)

जो आहार के निमित्त दौड़ता है कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

गिण्हदिं अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धार तो चोरेण व होइ सो समणो।। (14)

जो मनुष्य जिन लिङ्ग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा लगाकर दूसरों की निन्दा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो सवणो। (18)

जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सवणो।। (19)

हे मुनिवर! ऐसी खोट प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमी जनों के मध्य में रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है अर्थात् भावलिङ्ग से

रहित है यथार्थ मुनि नहीं है।

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वोपट्ठो।

पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। (20)

जो स्त्रियों में विश्वास उपजा कर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट तथा भावलिङ्ग से शून्य है वह परमार्थ मुनि नहीं है। धम्मपद में महात्मा बुद्ध ने कहा भी है -

असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।

आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ।। (14) (पृ. 24 धम्मपद)

ममेव कतञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।

ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेस किस्मिचि।

तचि बालस्स सङ्कप्पा इच्छा मानो च वड्ढति।। (15)

भिक्षुओं के बीच अगुआ होना, मठों का अधिपति बनना, गृहस्थ परिवारों में पूजित होना, गृही और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया माने, सभी प्रकार के काम में मेरे ही आधीन रहें-ऐसा मूर्ख का संकल्प होता है, जिससे उसकी इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं।

अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी।

एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।।

सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये।। (16) (पृ. 25)

लाभ का रास्ता दूसरा और निर्वाण को ले जाने वाला दूसरा इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे और विवेक (एकान्तवास) को बढ़ावे।

आत्मलीनता से विभिन्न लाभ

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : क्या मिलिए...नगरी-नगरी, पर्वत-पर्वत)

बड़ा सुख पाता आनन्द आता, जब आत्मा में लीन रहता।

संकल्प न होता विकल्प नशता, समता-शान्ति का अनुभव करता।।

आकर्षण हटता, विकर्षण घटता, स्व के द्वारा ही स्व में स्थिर होता।
संक्लेश न होता द्वन्द्व भी नशता, निस्पृह-निराडम्बर स्वतंत्र होता।।(1)

संयम बढ़ता-स्वावलम्बन भी होता, ध्यान-अध्ययन में लीन रहता।
अपेक्षा न होती उपेक्षा नशती, प्रतीक्षा की इच्छा भी नहीं होती।।
भेदभाव नशे भेदज्ञान बढ़े, विषमता घटे समता बढ़े।
अशान्ति नशती शान्ति बढ़ती, परचिंता रूपी अधमता नशती।। (2)

विशुद्धि बढ़ती संतुष्ठी आती, आत्मिक शक्तियाँ बढ़ती जाती।
शोध-बोध होता चिन्तन बढ़ता, विश्लेषण युक्त संश्लेषण बढ़ता।।
स्वाध्याय बढ़ता अध्यापन कराता, अभूतपूर्व ज्ञान भी प्रगट होता।
अनुभव व आत्मविश्वास बढ़ता, बिना पढ़े-सुने भी ज्ञान होता।। (3)

संकीर्णता घटती उदारता आती, ख्याति-पूजा-लाभ की इच्छा न होती।
स्वभाव बढ़ता विभाव घटता, धैर्य-साहस-गंभीरता पाता।।
दीन-हीन-अहंकार नशते, स्व-अनन्त गुण-गणों का भान होता।
मन होता स्वस्थ्य आत्म होता बलीष्ठ, आत्मानुभव 'कनक' का बढ़ता।। (4)

प्रभावना होती प्रभाव बढ़ता, बिना प्रयास से यह होता।
धन-जन-साधन बिना होता, आत्मविकास प्रखर होता।। (5)

सागवाड़ा दि. 18.05.2018 रात्रि 08:50

सन्दर्भ-

आत्मध्यान का फल-स्वरूप

आत्मानुष्ठाननिष्टस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः।। (47)

He who is firmly established in his own self and keeeps away from the worldly intercourse a supreme kind of happiness is produced in the being of such a yogi!

शिष्य प्रश्न करता है कि आत्म स्वरूप में लीन रहने वालों को क्या होता है? गुरु उत्तर देते हैं कि -

देहादि से निवृत्त होकर जो स्व आत्मा में ही लीन होकर प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी को स्व आत्म ध्यान से एक अनिर्वचनीय परम आनन्द उत्पन्न होता है जो आनन्द अन्य में असंभव है।

समीक्षा- प्रत्येक आत्मा अनन्त अक्षय-ज्ञान-घन या परमानंद स्वरूप है परन्तु जिस प्रकार घने बादल के कारण सूर्य रश्मि प्रकट नहीं होती है उसी प्रकार घने कर्म के कारण राग-द्वेष-संकल्प-विकल्प के कारण वह स्वभाव लुप्त प्रायः है। तथापि जिस प्रकार बादल हटने पर, घटने पर सूर्य रश्मि प्रगट हो जाती है उसी प्रकार साधना के बल पर कर्मादि क्षीण होने पर, विलीन होने पर स्व में निहित आनन्द प्रकट हो जाता है। यह आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण या आनन्द है। इस आनन्द को प्राप्त योगी के लिये संसार के समस्त सुख वैभव तुच्छ प्रायः प्रतिभासित होता है, दुःख रूप में दिखाई देता है। इसे ही सच्चिदानन्द, आत्मानन्द, परमानन्द, अनंत सुख, अलौकिक आनंद, इन्द्रियातित आनन्द, ब्रह्मानन्द आदि नाम से अभिहित किया जाता है। इस आनन्द को ही प्राप्त करने के लिये समस्त धार्मिक विधियाँ की जाती है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि भी इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए समस्त वैभव त्याग कर सर्व सन्यास लेकर ध्यान करते हैं। हर सम्प्रदाय के महापुरुष साधु संत इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये साधना तथा ध्यानरत रहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार महर्षि कपिल, पताञ्जली यहाँ तक कि हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये समस्त, कार्यकलाप गतिविधियों को छोड़कर ध्यान लीन रहते हैं। जैन धर्म के अनुसार शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जो स्वयं गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती, कामदेव थे तथा जिनके दो कल्याणक हो गए थे और तीन ज्ञान के भी धारी थे वे भी इस परम् आनन्द को प्राप्त करने के लिये समस्त वैभव त्यागकर, साधु बनकर आत्म ध्यान में लीन हो गए।

गीता में महामानव नारायण श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए ध्यान का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार विवेचन किया है।

यत्रो परमते चित्तं निरूद्धं योग सेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्चन्मात्मानि तुष्यति।।
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यामतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चेवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचारल्यते।।
तं विद्याददुः खसंयोग वियोगं योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जहाँ शांति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहाँ मन संतोष पाता है और इन्द्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख का जहाँ अनुभव होता है, जहाँ रहकर मनुष्य मूल वस्तु से चलायमान नहीं होता और जिसे पाने पर दूसरे किसी लाभ को वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःख से भी डगमगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़ता पूर्वक साधने योग्य है।

प्रशान्तमनस ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शांत रजसं ब्रह्मयूतकल्मषम्।

जिसका मन भली-भाँति शांत हुआ है जिसके विकार शांत हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी विगत कल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमनन्तं सुखमश्नुते।।

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसंधान करते हुए पापरहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्म प्राप्तिरूप अनन्त सुख का अनुभव करता है। जिस प्रकार की अग्नि इन्धन को भस्म कर देती है। ऐसा आनन्द से सम्पन्न योगी परिषह, उपसर्ग क्लेशादि बाह्य दुःख को अनुभव नहीं करता है, इसलिए वह उससे संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है, खेद को प्राप्त नहीं होता है।

समीक्षा : जब आत्मा स्व-आत्मा में ही स्थिर हो जाता है, रम जाता है, लीन हो जाता है तब स्वयं में अनन्त अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। अरिहंत, सिद्ध भगवान् पूर्णतः स्व आत्मा में स्थिर होने के कारण वे सम्पूर्ण दुःखों से रहित अक्षय अनन्त आत्मोत्थ सुख का अनुभव करते हैं। सिद्ध भगवान् समस्त द्रव्य कर्म,

भावकर्म, नो कर्म अथवा घातिया-कर्म, अघातिया कर्म नष्ट करके स्वयं में पूर्ण निस्पन्द रूप से लीन होने के कारण अनन्त सुख का अनुभव करते हैं तथा अरिहंत भगवान् घातिया कर्म को नष्ट करने के कारण अनन्त सुख को अनुभव करते हैं। घातिया कर्म के अभाव से मोह, राग, द्वेष, तृष्णादि क्षय हो जाते हैं तथा अनन्त सुख, वीर्य, ज्ञान दर्शन प्राप्त कर लेते हैं जिसके कारण वे शरीर सम्बन्धी या पुण्य-पाप सम्बन्धी या समवसरण सम्बन्धी किसी भी प्रकार के सुख दुःख वेदन नहीं करते हैं। जय धवला में वीरसेनस्वामी ने केवली के शारीरिक सुख-दुःख, भूख, प्यास आदि नहीं होने का अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन निम्न प्रकार से किया है -

50. चार अघातिया कर्म विद्यमान हैं, इसलिए वर्तमान जिनके देवत्व का अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि चार अघातिया कर्म देवत्व के घात करने में असमर्थ है, इसलिए उनके रहने पर भी देवत्व का विनाश नहीं हो सकता है।

शंका - चार अघातिया कर्म देवत्व के विरोधी नहीं है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान - चार अघातिया कर्म यदि देवत्व के विरोधी होते तो उनकी अघाति संज्ञा नहीं बन सकती थी, इससे प्रतीत होता है कि चार अघातिया कर्म देवत्व के विरोधी नहीं है।

51. नामकर्म और गोत्रकर्म तो अवगुण के कारण है नहीं, क्योंकि जिन क्षीण मोह है। इसलिए उनमें नाम और गोत्र के निमित्त से राग और द्वेष संभव नहीं हो सकते हैं। आयु कर्म भी अवगुण का कारण नहीं है। क्योंकि क्षीणमोह जिन भगवान् में वर्तमान क्षेत्र के निमित्त से राग द्वेष नहीं उत्पन्न होता है और आगे होने वाले लोक शिखर पर गमन के प्रति सिद्ध के समान उनके उत्कण्ठा नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि केवली जिन के विद्यमान आयुकर्म अवगुणों का कारण नहीं है। तथा वेदनीय कर्म भी अवगुणों का कारण नहीं है, क्योंकि यद्यपि केवली जिन के वेदनीय कर्म का उदय पाया जाता है, फिर भी वह असहाय होने से अवगुण उत्पन्न नहीं कर सकता है। चार घातिया कर्मों की सहायता से ही वेदनीय कर्म दुःख को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु केवल जिन के चार घातिया कर्म नहीं है, इसलिए जल और मिट्टी के बिना बीज जिस प्रकार अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार वेदनीय भी घाति चतुष्क

के बिना अपना कार्य नहीं कर सकता है।

शंका - दुःख को उत्पन्न करने वाले वेदनीय कर्म के दुःख के उत्पन्न कराने में घातिचतुष्क सहायक है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान - यदि चार घातियाँ कर्मों की सहायता के बिना भी वेदनीय कर्म दुःख देने में समर्थ हो तो केवली जिन के रत्नत्रय की निर्बाध प्रवृत्ति नहीं बन सकती है। इससे प्रतीत होता है कि घाति चतुष्क की सहायता से ही वेदनीय अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

घातिकर्म के नष्ट हो जाने पर भी वेदनीय कर्म दुःख उत्पन करता है यदि ऐसा माना जाय तो केवली जिन को भूख और प्यास की बाधा होनी चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि भूख और प्यास में भोजन विषयक और जल विषयक तृष्णा के होने पर केवली भगवान् को मोहपने की आपत्ति प्राप्त होती है।

इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आत्मा का स्वशुद्ध स्वरूप अनन्त आनन्द स्वरूप है। अतएव जो जीव जितने-जितने अंश में उस स्वरूप को प्राप्त करता जाता है वह उतने-उतने अंश में बाह्य दुःखों से निवृत्त होता जाता है और आत्मानन्द को अनुभव करता जाता है। इसलिए ध्यान में स्थित 8वें गुण स्थान से लेकर आगे के मुनियों को बाह्य दुःख का वेदन नहीं होता है। सामान्य व्यक्तियों को भी अनुभव में आता है कि यदि उनका मन किसी काम में लीन है तो अन्य विषय उन्हें अनुभव में नहीं आता है। अचेतन-अवस्था में भी शरीर के दुःख अनुभव में नहीं आता है। एन्थेसीया (अचेतन करने की औषधि) का प्रयोग करके शल्य-चिकित्सा की जाती है, उस समय हाथ, पैर, यहाँ तक की हृदय को काटने पर भी उसकी पीड़ा अनुभव नहीं होती है।

आपको यह जानकर राहत मिलेगी कि आप पहले व्यक्ति नहीं है जो इस समस्या से ग्रस्त हैं। आपसे पहले भी लोग हुए हैं जिन्होंने इस परिस्थिति को झेला है। उनमें से कई ऐसे लोगों से मार्गदर्शन लिया जो इस ज्ञान के क्षेत्र में माहिर हैं। उन्हें ज्ञान की बातें तथा योग जैसी पद्धतियाँ सिखाई गई जिनसे इस प्रक्रिया में मदद मिलती है। योग आपके शरीर को स्वस्थ करने का माध्यम नहीं है, हालांकि उससे यह लाभ भी मिलता है। योग वह ज्ञान है जो आपको इस संकट से बाहर निकालता है, यह ऐसा

ज्ञान है जो आपको इस स्थिति से मुक्ति दिलाता है। जब यह मुक्ति आपके जीवन का उद्देश्य बन जाती है फिर अन्य आध्यात्मिक पद्धतियाँ आपकी सहायता कर सकती हैं। ये पद्धतियाँ बताती है कि आपको अपने पास उपलब्ध समय में क्या करना चाहिए ताकि आप स्वयं से मुक्त हो सकें। अंत में आप यही जानेंगे कि आपको स्वयं को अपने मन से दूर ले जाना है। ऐसा करने के लिए आपको अपने जीवन को दिशा देनी होगी और अपने अस्थिर मस्तिष्क को बाधा डालने से रोकना होगा। आपकी इच्छाशक्ति उस आवाज को सुनने की आप की आदत से अधिक प्रबल है। ऐसा कुछ नहीं है जो आप नहीं कर सकते। आपकी इच्छाशक्ति सर्वोच्च हैं।

यदि आप स्वयं को मुक्त करना चाहते है तो पहले आपको जागरूक होकर इस समस्या को समझना होगा। इसके बाद खुद इस मुक्ति को पाने के लिए आवश्यक भीतरी कार्य के प्रति खुद को प्रतिबद्ध करना पड़ेगा। यह आपको इस तरह करना चाहिए मानो आपका जीवन इसी पर निर्भर करता है, क्योंकि सचमुच ऐसा ही है। आपका जीवन आपका अपना नहीं है; यह भीतर का साथी, आपके मन के नियंत्रण में रहता है। आपको इसे वापस अपने हाथों में लेना है। साक्षी के स्थान पर दृढ़ बने रहिए और अपने मन की उस स्वाभाविक पकड़ को ढीला कर दीजिए जिसने आपको जकड़ रखा है। यह आपका जीवन है - इसे वापस प्राप्त कर लीजिए।

(अनन्त चेतना की खोज में)

क्या आप भी हैं इमोशनली हैल्दी?

आप भावनात्मक रूप से जितने ज्यादा मजबूत होंगे, आपको बीमारियाँ उतनी ही कम होंगी। इमोशनली हैल्दी होने पर आप कभी डिप्रेशन या स्ट्रैस के शिकार नहीं हो सकते। भावनात्मक रूप से मजबूत इंसान बनने का मतलब है आपका अपने इमोशन्स पर पूरी तरह से कंट्रोल है और आप हर बात पर भावनाओं को नहीं बहते। जानते हैं कि आप इमोशनली हैल्दी कैसे बन सकते हैं।

बहस और कुतर्कों से बचें

अगर आप मानसिक रूप से मजबूत रहना चाहते हैं तो अपने निजी रिश्तों में बहस से बचें। कोई भी प्रतिक्रिया करने से पहले आपको पूरी करने से पहले आपको

पूरी बात सुननी चाहिए। आपको बातचीत से समस्याओं का हल निकालना चाहिए।

बुरी आदतों से रहें दूर

शराब, धूम्रपान और ड्रग्स का सेवन करने से आप खुद पर काबू कम हो जाता है और आप ज्यादा गुस्सा करने लगते हैं। इसलिए आपको जीवन में बुरी आदतों से दूर रहना चाहिए।

शब्दों पर रखें काबू

मुँह से बोले गए शब्द वापस नहीं आते। इनसे जो जख्म मिलते हैं, वे कभी नहीं भरे जा सकते। आपको अपने गुस्से को इस तरह व्यक्त करना चाहिए कि किसी को नुकसान न पहुँचे। जब भी आपको गुस्सा आए तो किसी पर चिल्लाने के बजाय एक्सरसाइज करना शुरू कर दें।

आत्मसम्मान का महत्त्व

आपको खुद का और दूसरों का सम्मान करना चाहिए। इससे आपको अच्छा महसूस होता है। आपको ऐसे दोस्त खोजने चाहिए जो आपकी तरक्की में मदद करें। आपको सबकी मदद के लिए तैयार रहना चाहिए।

तनाव को रखें काबू में

तनाव को मैनेज करना भी एक कला है। आपको अपने गुस्से को प्रेम में बदलना होगा। आपको हमेशा बदला लेने की भावना के बजाय क्षमा करना चाहिए। आपको जीवन में आगे के बारे में विचार करना चाहिए। गुजरे समय को लेकर दुखी होने से मानसिक सेहत बिगड़ सकती है।

खुद की खूबियों पर करें गौर

आपको खुद को पॉजिटिव इंसान बनाने की कोशिश करनी चाहिए। इसके लिए आपको अपनी खूबियों पर गौर करना चाहिए। आपको मन ही मन में इस बात को दोहराना चाहिए कि मैं एक प्यार इंसान हूँ। मैं पूरी तरह से स्वस्थ हूँ। स्वास्थ्य पर मेरा पूरा हक है।

न्यूट्रिशियल सप्लीमेंट्स

मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के लिए जरूरी है कि भोजन में हर तरह के पोषक तत्व सही मात्रा में हो। आपके भोजन में फैट एसिड, विटामिन बी, कैल्शियम्,

मैगनीशियम आदि जरूर होने चाहिए।

बैलेंस्ड डाइट का ध्यान रखें

आपको अपने भोजन में सब्जियाँ, दालें और फलों का भरपूर सेवन करना चाहिए। अगर आप बैलेंस्ड डाइट नहीं लेते हैं तो आपका मूड खराब रहता है। आपको चीनी, चॉकलेट, कैफीन आदि का ज्यादा सेवन करने से भी बचना चाहिए।

सपोर्ट सिस्टम तैयार करें

आपके पास ऐसे लोग होने चाहिए, जो आपको सपोर्ट कर सकें। अगर आप अकेले पड़ जाएँ तो ऐसे लोगों के साथ रहें और दिल को हल्का रकरें। आपको ज्यादा से ज्यादा दोस्त बनाने चाहिए। (रा. पत्रिका)

आपको कैसे पता लगता है कि आत्मा ऊपर उठती है? यह उसी तरह पता लगता है, जिस तरह आपको यह पता है कि आप साँस ले रहे हैं, आपका दिल धड़क रहा है और दिमाग में विचार आ रहे हैं। आप सजग है और इसे प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर रहे हैं।

ऊपर उठने का क्या अर्थ है? यह अपने भीतर जाने का अनुभव है। अब आप भौतिक स्वरूप में बँधे हुए नहीं है, इसलिए अब आपको अपने अंदर पहले से अधिक खुलापन महसूस होता है। आपको लगता है कि अब आपके तथा विचारों व भावों के बीच की दूरी बढ़ गई है। आप पीछे हटते है, भीतर जाते हैं और फिर ऊपर उठ जाते हैं।

ऊपर उठते हुए कैसा लगता है? आपको पहले जैसा गुस्सा, डर या आत्म-सजगता महसूस नहीं होती। आप लोगों से अप्रसन्न नहीं होते। आपका दिल जल्दी-जल्दी बंद नहीं होता या तनाव में नहीं आता। वह सब चीजें अब भी होती है जो आप नहीं चाहते, लेकिन अब यह आपको पहले की तरह प्रभावित नहीं करती। अब यह आप तक नहीं पहुँच पातीं क्योंकि आप अपने स्वरूप के उस अंश के पीछे जा चुके हैं जो इन सब बातों से परेशान होता था। यह वास्तविक अनुभव है, न कि ऐसी बातें जो आपको सिर्फ बताई जाती थीं। जब आप अपनी निम्न तरंगों को ढ़ीला छोड़ देते हैं तो यह सब आपके साथ होने लगता है। आप ज्यादा गहरी तरंगों की ओर जाने लगते हैं।

आप कहाँ जा रहे है? अगर आपको यह समझ नहीं आ रहा कि आपके साथ क्या हो रहा है तो भी आपको कहीं जाने का अनुभव तो होता ही है जिसे आप नकार नहीं सकते। आपको महसूस होता है कि आप अपने आध्यात्मिक स्वरूप में लौट रहे हैं। जैसे-जैसे आपका शारीरिक और मानसिक अंश के साथ संबंध कम होने लगता है, आपका जुड़ाव विशुद्ध ऊर्जा के प्रवाह के साथ बढ़ जाता है।

शरीर की जगह आत्मा के साथ जुड़ना कैसा लगता है? आपको पहले तनाव और चिंता होती रहती थी; अब आप प्रेम को महसूस कर सकते है। आपको अकारण ही प्रेम महसूस होता है। प्रेम आपकी पृष्ठभूमि बन जाता है। आपकी पृष्ठभूमि खुलापन, सुंदरता और प्रशंसा है। खुद को ऐसा महसूस नहीं करवाना; आत्मा को स्वयं ऐसा महसूस होता है। अगर आपसे पूछा जाए कि शरीर को सामान्य तौर पर कैसा लगता है तो आप कहेंगे कि यह अक्सर किसी न किसी बात को लेकर असहज रहता है। मनोदशा की क्या स्थिति है? अगर आप पूछा ईमानदारी बरतें तो शायद आप कहेंगे कि यह ज्यादातर शिकायत और डर से भरी रहती है। अच्छा, आत्मा को कैसा लगता है? सच यही है कि आत्मा को हमेशा अच्छा महसूस होता है। यह हमेशा उच्च अवस्था में रहती है। इसे सदा ही मुक्त व हलका महसूस होता है।

इसके कारण आप स्वाभाविक रूप से आध्यात्मिक भाग पर केन्द्रित रहते हैं। इसके लिए आप आत्मा को पकड़ने की कोशिश नहीं करते, बल्कि आप बाकी चीज़ों पर अपनी पकड़ ढीली कर देते हैं। कोई अन्य रास्ता भी नहीं है। आपका व्यक्तिगत स्वरूप आत्मा को छू भी नहीं सकता; अपने इस रूप को आपको छोड़ना होगा जैसे-जैसे आप इसे छोड़ते जाएँगे, आप पीछे हटते जाएँगे। पीछे हटते-हटते आप ऊपर उठते जाएँगे। आपको उच्च तरंगों तथा अधिक मात्रा में प्रेम और हलकापन महसूस होने लगता है। आप एक तरह से उड़ने लगते हैं। यह लगातार बढ़ता जाता है।

जैसे-जैसे आप अपने स्वरूप के शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक पहलुओं से मुक्त होते हैं, आत्मा ही आपकी अवस्था बन जाती है। आप यह दावा नहीं करते कि आपको समझ में आ रहा है कि आपके साथ क्या हो रहा है; आपको सिर्फ यह पता होता है कि जैसे-जैसे आप पीछे हटते जाएँगे, यह अनुभव और भी

ज्यादा सुंदर होता जाएगा। आपके स्वाभाविक तौर पर उन तरंगों का एहसास होता है जिनका उल्लेख विभिन्न परंपराओं के महात्माओं और संतों ने भी किया है। आपको समझ में आने लगता है कि आपको भी गहरे आध्यात्मिक अनुभव हो सकते हैं और आप भी ... ईश्वर की पूजा के दिन आत्मा-स्वरूप बन सकते हैं। (श्रु. 110)

आखिर आप ईश्वर के बारे में कोई भी बात कैसे जान पाते हैं? आप किसी भी ऐसी चीज के बारे में कैसे पता लगा सकते हैं जो आपके परे है? आपको यह पता है क्योंकि जो लोग पार गए है उन्होंने लौटकर बताया कि आपको महसूस होने वाली आत्मा ईश्वर को पाने का द्वार है। जब उन्होंने अपने स्वरूप की निम्न अवस्थाओं का त्याग कर दिया तो उन्हें वही अनुभव हुआ जो अभी आपको हो रहा है। उन्हें बहुत-सा प्रेम, आत्मा और अपने अंदर प्रकाश का अनुभव हुआ। उन्हें लगा कि अब उनकी इन्द्रियाँ ऐसा कुछ ग्रहण नहीं कर सकतीं जो उनके भीतर चल रही क्रिया से ज्यादा बेहतर हो। वह दूर होते हुए और साथ ही ऊँचे उठते गए। फिर एक दिन अचानक, उनका स्वरूप गायब हो गया। उनके अंदर ''मैं'' नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई। प्रेम और प्रकाश के अनुभव में अंतर करने का बोध नहीं था। अब उनके अंदर सिर्फ प्रेम और प्रकाश में अपनी आत्मा के विलय के बोध का पूर्ण विस्तार मौजूद था, जैसे : सागर में पानी की एक बूँद।

चेतना की बूँद जो स्वयं को एक व्यक्ति की तरह मानती है, पीछे बहुत दूर हट जाती है तो वह उस बूँद की तरह हो जाती है जो सागर में गिरने को तैयार है। आत्मा का परमात्मा में विलय हो जाता है। व्यक्तिगत चेतना ब्रह्माण्डीय चेतना में मिल जाती है। बस, यही सारी बात है।

जब ऐसा होता है तो लोग बहुत मजेदार बातें बोलते हैं, ''मैं और मेरे परम पिता एक ही है (जॉन 10:30) तथा,''....जो शब्द मैं तुम्हें कहता हूँ, वह मैं अपने बारे में नहीं कहता : बल्कि उस परम पिता के लिए कहता हूँ जो मेरे भीतर मौजूद हैं, क्योंकि सभी कार्य वहीं करते है।'' (जॉन 14:10)

वह सभी इसी तरह की बात करते थे। उन्होंने कहा कि उनका विलय हो गया और ईश्वर के ब्रह्माण्डीय एकाकार के अंतर्गत कोई भेद नहीं होता। चेतना की बूँद, जो व्यक्तिगत आत्मा का स्वरूप है, सूर्य से निकलने वाली किरण के जैसी है। जब

यह चेतना खुद को किरण के साथ जोड़ना बंद कर देती है, तो यह स्वयं को सूर्य मानने लग जाती है। आत्मा का उस अवस्था में विलय हो गया है।

जॉन के आध्यात्मिक ईसा चरित में यीशु कहते हैं, ''वे सब एक होकर जाएँ: जिस तरह मेरे परम पिता और मैं एक हो गए और वह एक होकर पूर्ण हो जाएँ...'' (जॉन 17:21.23)। यही बात हिन्दू वेदों में भी कही गई है; यही चीज़ यहूदियों के दासता में है; यही बात सूफ़ी आध्यात्मिक कवियों ने लिखी थी और यह विश्व की सभी महान परम्पराओं में भी सिखाया जाता है। यह अवस्था होती है; व्यक्ति ब्रह्माण्डीय पूर्णता में विलीन हो सकता है। व्यक्ति का ईश्वर में विलय हो सकता है।

ईश्वर के बारे में थोड़ा जानने का यही तरीका है। आप ईश्वर के साथ एकाकार हो जाते है। आखिरकार ईश्वर में विलीन होकर यह देखना कि आपके साथ फिर क्या होता है, उसको जानने का रास्ता है। इसे ब्रह्माण्डीय चेतना कहते हैं और जिन लोगों के गुण जो इस गहन अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, सभी धर्मों में एक समान है।

ईश्वर की ओर जा रहे इस रास्ते पर चलने वाले का क्या होता है? इस मार्ग पर उनमें क्या बदलाव आते है? इसे समझने के लिए, कल्पना कीजिए कि यदि सभी जीवों, प्रत्येक पौधे, प्रत्येक पशु और प्रकृति की सभी सुंदर चीज़ों से आपको बहुत गहरा प्रेम हो जाए तो क्या होगा। सोचिए अगर हर बच्चा आपको अपना लगे, हर व्यक्ति आपको अपने अलग रंग, अलग भाव, आकार और आवाज लिए एक सुंदर फूल जैसा दिखाई दे। जैसे-जेसे आप और गहरे उतरेंगे, आपका ध्यान एक शानदार चीज़ पर जाएगा- आपने लोगों को परखना छोड़ दिया। परखने की प्रक्रिया ही रुक गई। सिर्फ लोगों की प्रशंसा और उनका आदर करना बाकी रह गया। जहाँ पहले आप परखते थे, अब आप आदर, प्रेम और प्रशंसा देते हैं। भेदभाव करने को ही परखना कहते हैं। जीवन को परखने के बजाय उसे देखना, अनुभव करना और आदर करना ही जीवन में हिस्सा लेने का असली ढंग है।

इस तरह आप भगवान को नहीं जान सकते। यह वास्तविक अनुभव द्वारा ही संभव है। ऐसा आपके साथ ध्यान की अवस्था में होता है। जब आप अपनी क्षुद्र इच्छाओं का त्याग कर देते हैं तब ऐसा होता है। आप आत्मा में लीन होने लगते हैं और तब आपके भीतर से बदलाव होते हैं। आपको सिर्फ उन्हें ध्यान से देखना है

और ऐसा करने पर आपको दिव्य गुणों का आभास होने लगेगा। आप जितना आगे जाएँगे, आपको अपने अंदर ये स्वाभाविक गुण उतने ही ज्यादा नजर आने लगेंगे। आगे बढ़ते हर कदम के साथ, आपको यह स्पष्ट दिखने लगता है कि उस दिव्य अवस्था में रहना कैसा लगता होगा।

ऐसे कई लोग है जो इस दिव्य शक्ति के अस्तित्व को जानते हैं। उन्हें ऐसे अनेक अनुभव हो चुके होते हैं जिनसे उन्हें यह पता लग जाता है कि दिव्य चेतना एक सच्चाई है। उन्होंने उस सर्वज्ञ, सर्व-व्यापी और सर्वशक्तिशाली की झलक देखी है; वह शक्ति जिसे हर समय, सब चीज़ों की समान रूप से जानकारी होती है। यह सार्वभौमिक रूप से चेतन होती है।

उस दिव्य अवस्था में रचना कैसी दिखाई देती है? जिन लोगों ने इसके पार जाकर ईश्वर की आँखों से देखा है, उन्होंने सचमुच क्या देखा है? उन्होंने देखा है कि परखने का कोई अर्थ नहीं होता। उनकी परखने की क्रिया बहुत पहले बंद हो गई थी। उन्हें सिर्फ़ सौन्दर्य दिखाई देता है। ऐसा व्यक्ति सोचता है, ''अब मैं एक साथ सारे फूल देख सकता हूँ। अब मैं यह अनुभव कर सकता हूँ कि मेरे बच्चे क्या कर रहे है और संसार की समस्त विविधता क्या कर रही है। अब मैं अपनी रचना के कार्यों और अभिव्यक्तियों के लिए पहले से ज़्यादा प्रेम, ज़्यादा करुणा, ज़्यादा समझ और ज़्यादा प्रशंसा महसूस कर सकता हूँ।'' संत बनकर ऐसा ही लगता है। सच्चा संत सिर्फ़ ईश्वर के साथ रहता है। (अनन्त चेतना की खोज में)

विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट, 10 साल में 18% सालाना की दर से बढ़े हैं डिप्रेशन के मरीज

दुनिया के 30 करोड़ लोग डिप्रेशन के शिकार; इसकी वजह से वर्ल्ड इकोनॉमी को 67 लाख करोड़ रु. का नुकसान हो रहा है

33% लोग कार्यक्षेत्र के तनाव की वजह से डिप्रेशन से पीड़ित

दुनियाभर के लोगों की सेहतपर डिप्रेशन यानी अवसाद का काफी असर पड़

रहा है। दुनिया के 30 करोड़ लोग डिप्रेशन से पीड़ित हैं। सेहत के साथ ही अर्थव्यवस्था पर भी डिप्रेशन का असर पड़ रहा है। दिमागी सेहत संतुलित नहीं होने के कारण दुनिया की अर्थव्यवस्था को करीब 67 लाख करोड़ रुपए का नुकसान हो रहा है। ये नतीजे विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक अध्ययन से निकले हैं। अमेरिका में तो सबसे खराब स्थिति है। यहाँ हर 5 में से एक वयस्क व्यक्ति ने स्वीकार किया कि वो जिंदगी में कभी ना कभी डिप्रेशन का सामना कर चुका है। वहीं पूरे यूरोप में भी 8 करोड़ 30 लाख लोग मानसिक असंतुलन से प्रभावित है। डब्ल्यूएचओ के मुताबिक 2005 से 2015 के बीच दुनिया में डिप्रेशन के मरीज करीब 18% सालाना की दर से बढ़े हैं। इसके अलावा चिंता और बेचैनी से भी करीब 26 करोड़ लोग पीड़ित हैं। ये चिंता, बेचैनी ही आगे डिप्रेशन का रूप ले लेती हैं।

2017 के मेंटल हेल्थ अमेरिका के अध्ययन में 19 अलग-अलग इंडस्ट्रीज में काम करने वाले 17 हजार लोगों से बात की गई थी। इसमें पता चला कि नौकरी देने वाले की ओर से उन्हें कोई भी सहयोग नहीं मिलता है। इसके साथ ही उन्हें कार्यक्षेत्र पर भारी तनाव और एकाकीपन का भी सामना करना पड़ रहा है। दुनिया के 33% लोग नौकरी से असंतुष्ट हैं। 81% लोग काम और निजी जिंदगी के बीच संतुलन ना बन पाने की वजह से तनाव में हैं। ब्रिटेन में तो 2017 में 3 लाख लोगों की नौकरी दिमागी समस्याओं की वजह से गई।

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस डिप्रेशन से उबारने में मदद कर सकता है

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस एक प्रकार से व्यक्तित्व और आदतों को भाँपकर उसके अनुसार कार्य करता है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से कैंसर तक को बहुत पहले ही पकड़ा जा चुका है। बुजुर्गों में इसकी समस्या अधिक रहती है। अमेरिका में वृद्ध मामलों के विभाग के तहत डिफेंस एडवांस रिसर्च द्वारा कोगिटो नामक कंपनी खड़ी की गई है, जो बुजुर्गों के मानसिक स्वास्थ्य का आंकलन एप के जरिए करती है।

यूजर की दिमागी सेहत को परखता है कम्पेनियन एप

दिमागी सेहत को मोबाइल की मदद से ही परखने के लिए कम्पेनियम एप मौजूद है, जो यूजर के बर्ताव पर नजर रखता है। फोन पर बात करते वक्त यूजर की

आवाज भाँपकर बताता है कि उसे कोई मानसिक समस्या है या नहीं।

संगीत व नई भाषा से तेज होती है याददाश्त

काफी पहले यह स्पष्ट हो चुका है कि संगीत मस्तिष्क की सक्रियता के लिए अच्छा होता है। यह उम्र संबंधी कई बीमारियों को भी दूर रखने में मदद करता है। अब एक नवीन अध्ययन में संगीत और नई भाषा के लाभ के बारे में बताया गया है। अध्ययन में दावा किया गया है कि संगीत और नई भाषा सीखने से मस्तिष्क की दक्षता बढ़ती है। एनल्ज ऑफ व न्यूयॉर्क अकेदमी ऑफ साइंस नामक जर्नल में प्रकाशित अध्ययन के मुताबिक, संगीत जानने वाले और द्विभाषी लोगों की याददाश्त अच्छी होती है। इसकी वजह कोई वाद्ययंत्र या दूसरी भाषा का सीखना है।

ज्ञान दान का फल है : पाँचों प्रकार ज्ञान की उपलब्धि

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छुप गया कोई रे)

ज्ञानदान महादान तीर्थंकर बताते, निरवद्य यह दान पापी नहीं करते।
तीर्थंकर-केवली व गणधर देव, ज्ञानदान करते सूरी पाठक देव।। (1)

ज्ञानदान करना है महान् उपकार, ज्ञानदान है स्वर्गमोक्ष दातार।
सातिशय पुण्य बन्ध होता है इससे, असंख्यात गुणीत कर्म निर्जरा इससे।। (2)

ज्ञानदान से पूर्ण होता मति श्रुतज्ञान, अवधि मनः पर्यय व केवलज्ञान।
बुद्धिलब्धि की भी उपलब्धि होती इससे, गणधर से ले तीर्थंकर बनते इससे।। (3)

सांसारिक अभ्युदय भी होता इससे, राजा महाराजा चक्री भी बनते इससे।
विद्वान्-कवि-लेखक तथा विद्याधर, ज्ञानी-विज्ञानी भी बनते ज्ञानदान से।। (4)

बुद्धि लब्धि प्राप्त होती ज्ञानदान से, ज्ञानदान का फल मिले इह परलोक में।
केवलज्ञान-परमावधि-सर्वावधि, कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि, बीजबुद्धि ऋद्धि।। (5)

पदानुसारी, संभिन्न श्रोतृ ऋद्धि, स्वयंबुद्ध ऋद्धि प्रत्येक बुद्ध ऋद्धि।
बोधित बुद्ध ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान, तथाहि विपुलमित्त मनः पर्यय ज्ञान।। (6)

दशपूर्वीक ऋद्धि चौदह पूर्व ऋद्धि, अष्ट महानिमित्त कुशल बुद्धि ऋद्धि।

प्राप्त करते ज्ञानदानी परम्परा से, श्रमण बनकर ध्यान-अध्ययन से।। (7)

ज्ञानदान प्रमुखतः श्रमण करते, अध्यापन-प्रवचन रूप से करते।
ग्रन्थलेखन से ज्ञानदान करते, पंचविध स्वाध्याय से ज्ञानदान करते।। (8)

ध्यान-अध्ययन है प्रमुख श्रमणधर्म, इसके बिना न होते हैं श्रमण।
ज्ञानदान हैं स्वाध्याय जो परमतप, समस्ततप हेतु स्वाध्याय **निमित्त**।। (9)

श्रावक भी करते यथायोग्य ज्ञानदान, ग्रन्थ प्रकाशन व ग्रन्थों का दान।
ज्ञान उपकरण दान व शिविर-संगोष्ठी, ज्ञान व ज्ञानी के विनय करके।। (10)

जिनवाणी पूजा व उत्सव-विधान, चतुर्विध संघ को जिनवाणी दान।
देश-विदेशों में ज्ञान का प्रचार, जिनवाणी सुरक्षा के उपाय प्रचुर।। (11)

यथाशक्ति ज्ञानदान सदाकरणीय, आत्मविकास हेतु यह वरणीय।
ख्याति पूजा लाभ व वर्चस्व रहित, श्रद्धा-प्रज्ञा-आचरण से यह करणीय।। (12)

ज्ञान ही जीवों का है परमगुण, जिससे जीव होते अजीव से भिन्न।
ज्ञान बिना हेय-उपादेय का न ज्ञान, 'कनक' का लक्ष्य है परम ज्ञान।। (13)

सागवाड़ा 20.05.2018 रात्रि 10:25

सन्दर्भ-

दानों का फल

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरुणं।
सो णिब्भओ तिलोए उत्तस्सो होइ सव्वेसिं।।
सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरण भीरुणाम्।
स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषाम्।।490।। भाव सं.

अर्थ : जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे है ऐसे समस्त जीवों को जो अभयदान देता है वह पुरुष तीनों लोकों में निर्भय होता है और सब मनुष्यों में उत्कृष्ट होता है।

सुयदाणेण लब्भइ मइ सुइ णाणं च ओहिमणणाणं।
बुद्धितवेणय सहियं पच्छा वर केवलं णाणं।।

श्रुतदाणेण च लभते मतिश्रुतज्ञानं च अवधि मनोज्ञानम्।

बुद्धि तपोभ्यां च सहितं पश्चाद्वरकेवलं ज्ञानम्।।491।।

अर्थ : जो पुरुष शास्त्रदान देता है, जिनागम को पढ़ाता है वह पुरुष मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है, बुद्धि और तपश्चरण के साथ-साथ अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है पश्चात् केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

ओसहदाणेण णरो अतुलिम लवपरक्कमोहमहासत्तो।

वाहि विमुक्क सरीरो चिराउ सो होइ तेयठ्ठो।।

औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महोसत्वः।

व्याधि विमुक्त शरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्थः।।492।।

अर्थ : जो पुरुष औषध दान देता है वह अतुलित वा सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को धारण करता है महाशक्ति को धारण करता है, वह चिरायु होता है, तेजस्वी होता है और उसका शरीर समस्त रोग व्याधियों से रहित होता है।

दाणस्साहारं फलं को सक्कइ वण्णिऊण भुवणयले।

दिण्णेण जेण भोओ लब्भंति मणिच्छियासव्वे।।

दानस्य आहारस्य फलं कः शक्नोति वर्णयितुं भुवनतले।

दत्तेन येन भोगा लभ्यन्ते म इच्छितराः सर्वे।।493।।

अर्थ : इन तीनों लोकों में आहार दान के फल को वर्णन करने के लिए भला कौन समर्थ है।

ज्ञानदान

यो ज्ञान दान कुरूते मुनीनां सदेवलोकस्य सुखानि भुक्ते।

राज्य च सत्केवलबोधलब्धि लब्ध्वा स्वयं मुक्तिपद लभेत्।।

जो मुनियों के लिए ज्ञानदान करता है वह स्वयं स्वर्ग लोक से सुख भोगकर राज्य को प्राप्त करता हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर स्वयं मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

मुनियों को शास्त्र, ज्ञान उपकरण जैसे-कागज, कलम आदि देना ज्ञानदान कहा जाता है। सत्साहित्यों का प्रकाशन-वितरण करना भी ज्ञान-दान है। स्वयं दूसरों को

पढ़ाना, धार्मिक सहयोग देना भी ज्ञान-दान है।

ज्ञान-दान से ग्वाला कौण्डेश (कुन्दकुन्द) मुनि हुआ

कुरुमणि ग्राम में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। उसने कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनि के लिए वह शास्त्र दे दिया। उस शास्त्र के द्वारा पहले के कितने ही मुनियों ने स्वयं पूजा करके तथा दूसरों से कराकर व्याख्यान किया था। उसके बाद वे उस शास्त्र को उसी कोटर में रखकर चले गए थे। गोविन्द बचपन से ही उस शास्त्र को देखकर नित्य ही उसकी पूजा करता था। वही गोविन्द निदान से मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनि को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया, जिससे तप धारण कर वह कौण्डश नाम का बहुत बड़ा शास्त्रों का पारगामी मुनि हुआ। वह श्रुत ज्ञान-शास्त्र दान का फल हैं।

ऋषिगणों को (गणेशानपि) तथा गणधर देवों की (तद्-गुणाप्त्यै) मैं उनके गुणों को प्राप्त करने के लिये (स्तुवे) स्तुति करता हूँ।

नृ-सुर-खचर-सेव्या विश्व श्रेष्ठर्द्धि-भूषा,
विविध-गुण-समुद्रा मार मातंग-सिंहाः।
भव-जल-निधि-पोता वन्दिता में दिशन्तु,
मुनि-गण-सकलाः श्री-सिद्धिदाः सदृषीन्द्रा।।10।। (बृ.प्रति.)

अन्वयार्थ-(नृसुरखचरसेव्या) मनुष्य, देव, विद्याधरों से पूज्य (विश्वश्रेष्ठ ऋद्धिः भूषा) समस्त श्रेष्ठ ऋद्धियों से भूषित (विविध गुण समुद्रा) अनेक गुणों के समुद्र (मार-मातङ्गसिंहा) कामदेवरूपी हाथी को वश में करने के लिये सिंह समान (भवजलनिधिपोता) संसाररूप समुद्र को पार करने के लिए जहाज (सदृशा) समान, (वन्दिता) वन्दना किये गये (मुनिगणसकलाः इन्द्रा) समस्त मुनि समूह/संघ के इन्द्र गणधर देव (मे सिद्धिदाः दिशन्तु) मुझे सिद्धपद प्रदान करने वाले हों।

नित्यं यो गुणभृन्मन्त्र, विशुद्धसन् जपत्यमुम्,
आस्रवस्तस्य पुण्यानां, निर्जरा पापकर्मणाम्।
नश्यादुपद्रवकश्चिद् व्याधिभूत विषादिभिः,
सदसत् वीक्षणे स्वप्ने, समाधिश्च भवेन्मृतो।।

(यः) जो (नित्यं) प्रतिदिन (विशुद्धः सन्) शुद्ध मन होता हुआ/शुद्धपूर्वक (अमुम्) इस (गणभृन्मन्त्रं) गणधर वलय मन्त्र को (जपति) पढ़ता है (तस्य) उसको (पुण्यानां आस्रव) पुण्यकर्मों का आस्रव होता तथा (पापकर्मणां निर्जरा) पापकर्मों की निर्जरा होती है (विषादिभिः व्याधिभूत) विष आदि से होने वाले रोग, पिशाच आदि (उपद्रवः) बाधा (नश्चात्) दूर होते है (स्वप्ने सत् असत् वीक्षणे) स्वप्न में शुभ-अशुभ दिखाई देता है (च) और (मृतौ) मरण समय में (समाधिः) समाधिमरण (भवेत्) होता है।

1. णमो जिणाणं-उन जिनेन्द्र को नमस्कार हो। कौन से जिनों को? तत्परिणत भाव जिन और स्थापना जिनों को नमस्कार हो।

2. णमो ओहि जिणाणं-अवधि जिनों को नमस्कार हो। रत्नत्रय सहित अविधज्ञानी अवधि जिन है, ऐसे अवधिस्वरूप अथवा रत्नत्रय मंडित देशावधि जिनों को नमस्कार हो।

3. णमो परमोहि जिणाणं-उन परमावधि जिनों को नमस्कार हो। जो परम अर्थात् श्रेष्ठ है, ऐसा अवधिज्ञान जिनके है वे परमावधि जिन है। यह ज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषय वाला है, संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, अप्रतिपाती है इसलिये इसे ज्येष्ठपना है।

4. णमो सव्वोहि जिणाणं-उन सर्वावधि जिनों को नमस्कार हो। जो सर्वावधि जिन समस्त संसारी जीव और समस्त पुद्गल द्रव्य (अणुमात्र को भी) जानते है ऐसे सर्वावधि जिन परमावधि जिन से महान् हैं।

5. णमो अणंतोहि जिणाणं-उन अनन्तावधि जिनों को नमस्कार हो। जिनके अवधिज्ञान की कोई सीमा, मर्यादा नहीं है। इस ऋद्धि के धारक केवलज्ञानी होते है।

6. णमो कोट्ठबुद्धीणं-उन कोष्ठबुद्धि जिनों को नमस्कार हो। जैसे-शाली, ब्रीहि, जौ और गेहूँ आदि के आधारभूत कोथली, पल्ली आदि का नाम कोष्ठ है। वैसे श्रुतज्ञान संबंधी समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उस बुद्धि को कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठरूप जो बुद्धि है वह कोष्ठबुद्धि है। यह धारणावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है।

7. णमो बीजबुद्धीणं-उन बीज बुद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो। जिस प्रकार बीज, अकुंर, पत्र, पोर, स्कंध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तंदुल आदि का आधार है, उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है वह बीजतुल्य होने से बीज है। संख्यात शब्दों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों से सम्बद्ध भिन्न-मिन्न लिंगो के साथ बीज पद को जानने वाली बीजबुद्धि है। बीजबुद्धि अवग्रहावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है।

8. णमो पदाणुसारीणं-उन पदानुसारी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो। जो पद का अनुसरण या अनुकरण करती है वह पदानुसारी बुद्धि है। बीजबुद्धि से पद को जानकर यहाँ यह इन अक्षरों का लिंग होता है और इनका लिंग नहीं होता इस प्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर और पदों को जाननेवाली पदानुसारी बुद्धि है। यह ईहा और अवायावरणी कर्म के तीव्र क्षयोपशम से होती है।

9. णमो संभिण्णसोदाराणं-संभिन्न श्रोतृ जिनों को नमस्कार हो। एक अक्षौहिणी में नौ हजार हाथी, एक के आश्रित सौ रथ, एक-एक रथ के आश्रित सौ घोड़े और एक-एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। ऐसी चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषाओं से यदि युगपत् बोले तो भी ''संभिन्नश्रोतृ'' युगपत् सब भाषाओं को ग्रहण करके प्रतिपादन करता है। इनसे संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकर मुख से निकली हुई ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ संभिन्नश्रोतृ के विषय में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह बुद्धि बहु-बहुविध और क्षिप्र ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होती है।

10. णमो सयं बुद्धाणं-उन स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो। जो वैराग्य का किंचित् कारण देखकर परोपदेश की कोई अपेक्षा न रखकर स्वयं ही जो वैराग्य को प्राप्त होते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं।

11. णमो पत्तेय बुद्धाणं-उन प्रत्येक बुद्धि जिनों को नमस्कार हो जो परोपदेश के बिना किसी एक निमित्त से वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे नीलाञ्जना को देखकर आदिनाथ भगवान् को।

12. णमो बोहिय बुद्धाणं-उन बोधितबुद्ध जिनों को नमस्कार हो जो भोगों में आसक्त महानुभाव अपने शरीर आदि में अशाश्वत रूप को देखकर परोपदेश से

वैराग्य को प्राप्त होते हैं वे बोधितबुद्ध जिन है।

13. **णमो उजुमदीणं**–उन ऋजमुति मनःपर्यायज्ञानियों को नमस्कार हो। जो सरलता से मनोगत, सरलता वे वचनगत व सरलता से कायगत अर्थ को जानने वाले है।

14. **णमो विउलमदीणं**–उन विपुलमति मनः पर्यायज्ञानियों को नमस्कार हो। जो ऋजु या अनृजु मन-वचन-काय में स्थित दोनों ही प्रकारों से उनको अप्राप्त और अर्धप्राप्त वस्तु को जानने वाली विपुलमति है।

15. **णमो दसपुव्वीणं**–अभिन्न दसपूर्वीक जिनों को नमस्कार हो। ऐसा क्यों? भिन्न और अभिन्न के भेद से दसपूर्वीक के दो भेद हैं। उनमें ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद को पढ़ते समय उत्पादपूर्व से लेकर पढ़ने वालों के दसम पूर्व विद्यानुप्रवाद के समाप्त होने पर अंगुष्ठ-प्रेसेनादि सात सौ क्षुद्रविद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएँ ''भगवन् क्या आज्ञा है'' ऐसा कहकर उपस्थित होती है। इस प्रकार उपस्थित सब विद्यओं के जो लोभ को प्राप्त होता वह भिन्न दसपूर्वी है, इनके जिनत्व नहीं रह पाता/क्योंकि इनके महाव्रत नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो कर्मक्षय के अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करते वे अभिन्नदसपूर्वी कहलाते हैं।

16. **णमो चउदसपुव्वीणं**–उन चौदहपूर्वधारी जिनों को नमस्कार है। जो सफल श्रुतधारक होने से चौदहपूर्वी कहलाते हैं।

यद्यपि अंग व चौदह पूर्वों में जिनावचनों की अपेक्षा समानता है तथापि चौदह पूर्व की समाप्ति करके रात्रि में कायोत्सर्ग में स्थित साधु की, प्रभात समय में भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों द्वारा महापूजा (शंख काहल आदि के शब्दों से) की जाती है। (विद्यानुवाद और लोकबिन्दुसार का महत्व है क्योंकि इनमें देवपूजा पायी जाती है)

चौदहपूर्वीधारक की विशेषता है कि ये मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं होते हैं।

17. **णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं**–अट्ठांगमहानिमित्तो में कुशलता को प्राप्त जिनों को नमस्कार हो।

जो अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष इन आठ निमित्तों के द्वारा जन समुदाय के शुभाशुभ जानने वाले हैं।

18. **णमो विउव्वइड्ढिपत्ताणं**–उन विक्रियाऋद्धिधारकजिनों को नमस्कार हो जो अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि को प्राप्त जिन हैं।

19. **णमो विज्जाहराणं**–उन विद्याधर जिनों को नमस्कार हो। जाति, कुल और तप विद्या के भेद से विद्याएँ तीन प्रकार की हैं। स्वकीय मातृपक्ष से प्राप्त विद्याएँ जाति विद्याएँ है और पितृपक्ष से प्राप्त हुए कुल विद्याएँ तथा अष्टम उपवास आदि करके सिद्ध की गई तपविद्याएँ हैं। यहाँ सिद्ध हुई समस्त विद्याओं के कार्य के परित्याग से उपलक्षित जिनों को विद्याधर स्वीकार किया गया है। जो सिद्ध हुई विद्याओं से काम लेने की इच्छा नहीं करते, केवल अज्ञान निवृत्ति के लिये उन्हें धारण करते हैं, वे विद्याधर जिन हैं।

20. **णमो चारणाणं**–उन चारण ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो। जो जल-जंघा-तन्तु-फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद के कारण ऋद्धि आठ प्रकार की हैं। जल, जंघा आदि आठ का आलम्बन लेकर गमन में कुशल ये ऋषिगण जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर सुखपूर्वक गमन करते हैं।

21. **णमो पण्णसमणाणं**–उन प्रज्ञाश्रमण जिनों को नमस्कार हो। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, परिणामिका की इस प्रकार प्रज्ञा चार प्रकार की है। विनय से अधीत श्रुतज्ञान आदि प्रमादवश विस्मृत हो जाय तो उसे औत्पत्ति की प्रज्ञा परभव में उपस्थित करती है और केवलज्ञान को बुलाती है। विनय से श्रुत के बारह अंगो का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले इस भव में पढ़ने, सुनने, व पूछने आदि के व्यापार से रहित जीव की प्रज्ञा औत्पत्ति की कहलाती है।

विनयपूर्वक बारह अंगों को पढ़ने वाले के उत्पन्न हुई प्रज्ञा वैनयिकी है।

गुरु के उपदेश बिना तपश्चरण से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है अथवा औषध सेवन के बल से उत्पन्न बुद्धि भी कर्मजा है और अपनी-अपनी जातिविशेष से उत्पन्न बुद्धि परिणामिका कही जाती है।

विनय अन्तरंग तप व मोक्ष द्वार
(अविनयी होते दंभी-मिथ्यात्वी व अगुणग्राही)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छुप गया कोई रे...)

विनय तप/(गुण) महान् है, दंभी नहीं सेवते/(पालते),
सम्यग्दृष्टि-गुणग्राही-नम्र जन सेवते।
विनय है अन्तरंग तप-श्रद्धा-भक्ति-पूजा,
विधान-पंचकल्याण-तीर्थयात्रा-प्रार्थना।। (1)

विनय द्विविध है लौकिक व लोकोत्तर,
लौकिक में/(से) न होता धर्म लोकोत्तर धर्म।
लोकानुवृत्ति-काम-भय-अर्थ विनय लौकिक,
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-उपचार अलौकिक।। (2)

लोक व्यवहार हेतु लोकानुवृत्ति विनय,
काम भोग सेवन हेतु होता काम विनय।
भय से भय विनय व धन हेतु अर्थ विनय,
इससे न होता धर्म न मिलता मोक्ष।। (3)

शंकादि (अष्ट) दोष मुक्त-अष्ट अंग सहित,
देव-शास्त्र-गुरु भक्ति-द्रव्य-भाव-पूजा युक्त।
उनकी प्रशंसा युक्त व अवर्णवाद परिमुक्त,
उनकी अवज्ञा दूर करना दर्शनविनय युक्त।।(4)

ज्ञान व ज्ञानी की भक्ति ज्ञान विनय,
अष्ट शुद्धि युक्त स्वाध्याय ज्ञान विनय।
ज्ञान दाता गुरु व शास्त्रों का गुण कथन,
अभ्युदय-मोक्ष फल दायक ज्ञान विनय ।। (5)

चारित्र व चारित्र धारी भक्ति करणीय,
चारित्र शुद्ध पालन है चारित्र विनय ।

प्रत्यक्ष-परोक्ष में विनय करणीय,
उनके गुण कथन व अनुकरण करणीय।। (6)
चारित्रधारी साधु की भक्ति करणीय,
हीन चारित्रधारी साधु की न निन्दा करणीय।
आहार-औषधि-ज्ञान-उपकरण भी देय,
उपसर्ग-परिषह दूर भी करणीय।। (7)
तप व तपस्वी होते हैं वन्दनीय,
अन्तरंग तप हेतु बाह्य तप करणीय।
प्रायश्चित-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय,
व्युत्सर्ग-ध्यान हेतु बाह्य तप करणीय।। (8)
उत्थान (साधु हेतु) स्वागत व उच्चासन भी देय,
स्वयं नीचे बैठना व पीछे चलना ज्ञेय/(ध्येय)।
हित-मित-प्रिय-अनुकूल वचन कथन/(आज्ञापालन),
सेवा-वैयावृत्ति-व्यवस्था उपचार विनय।। (9)
विनय है मोक्षद्वार विनय से तप ज्ञान,
विनय से रहित को न मिले तप ज्ञान।
अविनयी तो अज्ञानी-मोही व दंभी,
विनय सेवन करे ''सूरि कनकनन्दी''।। (10)

सागवाडा 22/05/2018 रात्रि 09:30

विनय का स्वरूप एवं भेद

संदर्भ-

विनय का स्वरूप विभिन्न ग्रंथों में निम्न प्रकार पाया जाता है-

हिताहिताप्तिलुप्यर्थं तदङ्गनां सदाञ्जसा।
यो माहात्योद्‌भवे यत्नः य मतो विनयः सताम्।। (47) (धर्मा)

हित की प्राप्ति और अहित का छेदन करने के लिए, जो हित की प्राप्ति और

अहित के छेदन करने के उपाय है इन उपायों को सदा छल-कपट रहित भाव से महात्म्य बढ़ाने का प्रयत्न करना, उन उपायों की शक्ति को बढ़ाना, इसे साधुजन विनय कहते हैं।

विनय के पाँच भेद

लोकानुवृतिकामार्थभय निश्रेयसाश्रयः।
विनयः पञ्चधावश्यकार्योऽन्यो निर्जरार्थिभिः।।(48)
लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुकः।
विनयो भवहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधनः।।
उत्थानमञ्जलिः पूजाऽतिथेरासनठौकनम्।
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद् विनयोमतः।।
भाषाच्छन्दानुवृत्तिं च प्रदानं देवकालयोः।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया।।
कामतन्त्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते।
विनयः पञ्चतो यस्तु तस्यैषा स्यात्प्ररुपणा।।

लोकानुवृतिहेतु विनय, काम हेतुविनय, अर्थ हेतु विनय, भयहेतु विनय और मोक्षहेतुविनय। व्यवहारी जनों से अनुकूल आचरण करना लोकानुवृति हेतुक विनय है। जिससे सब इन्द्रियां प्रसन्न हो उसे काम कहते हैं। जिस विनय का आश्रय काम है वह काम हेतुक विनय है। जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते है उसे अर्थ कहते हैं। अर्थमूलक विनय अर्थ हेतुक विनय है। भय से जो विनय की जाती है वह स्वार्थ हेतुक विनय है और जिस विनय का आश्रय मुमुक्षु लेता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो विनय की जाती है वह मोक्ष हेतुक विनय है। अतः जो मुमुक्षु कर्मों की निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए।

स्यात्कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः।। (60) (धर्म.)

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन आदि इन्द्रियों का सर्वथा विरोध करने को या शास्त्र विहित कर्म में प्रवृत्ति करने का अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा 'च' शब्द से रत्नत्रय के साधकों पर अनुग्रह करने वाले राजाओं का

यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते हैं।

यद्विनत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।

शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः।। (61)

'विनय' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'नी नयते' धातु से बना है। तो 'विनयतीति विनयः'। विनेयति के दो अर्थ होते हैं-दूर करना और विशेषरूप से प्राप्त करना। जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है। यह विनय 'जिनवचन के ज्ञान को प्राप्त करने का फल है और समस्त प्रकार के कल्याण इस नियम से ही प्राप्त होते हैं। अतः इसे अवश्य करना चाहिए।

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।

शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः।। (62)

आर्यता, कुलीनता आदि गुणों से युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्याय का सार अर्हद्रूप सम्पत्ति अर्थात् जिनरूप नग्नता आदि से युक्त मुनिपद धारण करना है और इस अर्हद्रूप सम्पदा का सार अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी की शिक्षा प्राप्त करना है।

इस आर्हती शिक्षा का सार सम्यक् विनय है और इस विनय में सत्पुरुषों के द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैनी शिक्षा का सार और जैन गुणों का मूल है।

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मबिडम्बनम्।

अविनीतस्य शिक्षाऽपि खलमैत्रीव किंफला।। (63)

जैनी शिक्षा से हीन पुरुषों का जिनलिंग धारण करना नट की तरह आत्मविडम्बना मात्र है। जैसे कोई नट मुनि का रूप धारण कर ले तो वह हंसी का पात्र होता है वैसे ही जैन धर्म ज्ञान रहित पुरुष का जिन रूप धारण करना भी है तथा विनय से रहित मनुष्य की शिक्षा भी दुर्जन की मित्रता के समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है।

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः

चतुर्धा विनयोऽवाचि पंचमोऽपि तपोगताः।। (64)

तत्त्वार्थशास्त्र के विचारकों ने दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और

उपचारविनय इस प्रकार चार भेद विनय के कहे हैं और आचार आदि शास्त्र के विचारकों ने तपोविनय का एक पाँचवाँ भेद भी कहा है।

दर्शनविनयः शंकाद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णावर्णाहृत्यनासदना जिनादिषु च।। (65)

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतिचारों को दूर करना दर्शन विनय है। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणों से उसे युक्त करना भी दर्शन विनय है तथा अर्हन्त सिद्ध आदि के गुणों में अनुराग रूप भक्ति, उनकी द्रव्य और भावपूजा विद्वानों की सभा में युक्ति के बल में जिनशासन को यशस्वी बनाना, उस पर लगाये मिथ्या लांछनो को दूर करना, उसके प्रति अवज्ञा का भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना ये सब भी सम्यग्दर्शन की विनय है।

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये।। (66)

सम्यग्दर्शन के दोषों को नष्ट करने में और गुणों को लाने में जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है और दोषों के दूर होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान में जो यत्न है वह दर्शनाचार है अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि के निर्मल करने में जो यत्न है वह विनय और उनके निर्मल होने पर विशेष रूप से अपनाना आचार है।

शुद्धव्यंजनवाच्यतातद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया।
योग्यावग्रहधारणेन समय तद्भाजि भक्त्यापि च।।
यत्काले विहिते कृतांजलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः।
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योष्टधापीष्टदः।। (67)

शब्द अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक, गुरु आदि का नाम न छिपाकर जिस आगम का अध्ययन करता है उसके लिए जो विशेष तप बतलाया है उसे अपनाते हुए आगम में तथा आगम के ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुए स्वाध्याय के लिए शास्त्रविहीत काल में पीच्छी सहित दोनों हाथ को जोड़कर, एकाग्रचित्त से मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागम का अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञान विनय है। उसके आठ भेद हैं जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फल को देने वाले हैं। मुमुक्षु को उसे अवश्य करना चाहिए।

यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे सत्साधनेषु च।। (68)

काल शुद्धि, व्यंजन शुद्धि आदि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है और काल शुद्धि आदि के होने पर जो श्रुत के अध्ययन में और उसके साधक पुस्तक आदि में यत्न किया जाता है वह ज्ञानाचार है अर्थात् ज्ञान के आठ अंगो की पूर्ति के लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है उनकी पूर्ति होने पर शास्त्राध्ययन के लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है।

रुऽरुच्चाहृषीगोचररतिद्वेषोज्झनेनाच्छलत्।
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया।।
सामान्येतर भावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्।
धन्य साधयते चारित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम्।। (69)

इन्द्रियों के रूचिकर विषयों के राग और अरुचिकर में द्वेष का त्याग कर उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया, और लोभ का छदेन करके, समितियों में बारम्बार उत्साह करके शुद्ध मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुए तथा व्रतों का सामान्य और विशेष भावानाओं के द्वारा अहिंसा आदि व्रतो को निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी की पोषक चारित्र विनय को करता है।

समित्यादिषु यतनो हि चारित्रविनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः।। (70)

समिति आदि में यत्न को चारित्र विनय कहते हैं और समिति आदि के होने पर महाव्रतों में यत्न किया जाता है वह चारित्रचार है। आचार सार में कहा भी है-

विनयं स्याद्विनयनं कषायेन्द्रिय मर्दनं।
स नीचैवृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचितम्।। (69)

'विनयते इति विनयनं' विनय को कियाजाता है कषाय का और इन्द्रियों का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषों में यथा योग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते हैं।

सदृग्ज्ञानतपश्चारित्रोपचार प्रपंचकः।
तत्रदृग्विनयस्त्यागः शंकादीनाममीचते।। (70)

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय सम्यक्चारित्र विनय तपो विनय और विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार का विनय है। उसमें शंकादि दोषों का परिहार करना सम्यग्दर्शन विनय हैं।

शंकाऽऽकांक्षा जुगुप्साऽन्यदृक् प्रशंसनसंस्तवाः।
नाम्नोज्ञेयाम्नयोन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती।। (71)

जिनेन्द्र कथित तत्त्व में संशय करना शंका है। संसारिक भोगों की वाँछा काँक्षा है, रत्नत्रयधारी दिगम्बर तपस्वियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना अथवा भूख प्यास से पीड़ित होकर जैन तपश्चरण से निर्विघ्न होना जुगुप्सा है। मन के द्वारा मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना संस्तव है। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनसे सम्यग्दर्शन मलीन होता है इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। इन अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकं।
बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं।। (72)
वयः शीलश्रुतोनाधिकाधुपाध्यायकीर्तनं।
चानिन्हवेन येनायंज्ञानावरणकारणं।। (73)
स्वराक्षरपदग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिकं।
स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्षकारणम्।। (74)

ज्ञानाचार अधिकार में कथित द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढ़ना वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियों में बहुमान होना श्रुतज्ञानियों की आसादना नहीं करना, उम्र में हीन होते हुए भी शील और श्रुत में अधिक उपाध्याय आदि के गुणों का उत्कीर्तन करना जिस गुरु से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत तप आदि में हीन हो तो भी उनका नाम बताना ज्ञानवरणादि कर्मों के कारणभूत निन्हव का त्याग करना अर्थात् अपने श्रुतज्ञान को नहीं छिपाना, शब्द शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना और दोनों शब्द तथा अर्थ शुद्ध पढ़ना यह ज्ञान के विनय हैं।

आवश्यक क्रियाशक्तिर्नानोत्तर गुणोन्नतिः।
तपस्तद्वत्प्रमोदश्च स्यात्तपोविनयो मुनेः।। (75)

निर्दोष आवश्यक क्रियाओं का पालन करना, नाना प्रकार के उत्तर गुणों की वृद्धि करना, बारह प्रकार के तपश्चरण में और तपस्वियों में प्रमोद भाव रखना तपोविनय है।

भक्तिश्चाचारित्रवत्स्वन्यवृत्ताऽनिन्दयमुपमः।

परीषहजयादौ च चारित्र विनयोमुनेः।। (76)

चारित्र मुनिराजों के प्रति भक्ति करना व्रतियों अर्थात् जघन्य चारित्र वाले की निन्दा नहीं करना परिषह आने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना यह चारित्र विनय है।

उपोपसृत्य यश्चार ''उपचार'' यथोचितः।

स प्रत्यक्षपरोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते।। (77)

समीप में जाकर यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते हैं।

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते।

स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम्।। (78)

गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः।

प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादि चतुष्टये।। (79)

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े होना चाहिए तथा भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिए। आचार्य के बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थानपर बैठना चाहिए। आचार्य के सामने शयन और उच्चासन को छोड़ना चाहिए। आचार्य के गमन करने पर उनके पीछे-पीछे चलना चाहिए। आचार्य के बोलने पर अनुकूल वचन बोलना चाहिए तथा आचार्य के प्रति मन में प्रमोदभाव, उनके गुणों में अनुराग होना चाहिए। आचार्य के समान ही उपाध्याय गणधर, स्थविर और प्रवर्तक का विनय करना चाहिए।

आचार्यदिष्वसत्सत्स्वेवं स्थविरस्य मुने गणे।

प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु।। (80)

आचार्य की अनुपस्थिति में स्थविर, गणधर और अन्य साधुओं में प्रतिरूप

काल योग्य क्रिया करना चाहिए।

आर्यादेशसंयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया।

कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारलक्षणम्।। (81)

आर्यिका, देशसंयमी और असंयतादि में उचित सत्कार करना चाहिए। यह प्रत्यक्ष उपचार लक्षण विनय है।

ज्ञानविज्ञान सत्कीर्तिर्नतिराज्ञानुवर्त्तनं।

परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः।। (82)

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान विज्ञान का सत्कीर्तन, आज्ञा का पालन और नमस्कार यह परोक्ष विनय है।

विनयेन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षामृतश्रियः।

संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदय श्रियः।। (83)

जो तपस्वी विनयहीन है अर्थात् गुरुजनों का विनय नहीं करता उसका शास्त्राध्ययनादि मुक्ति की प्राप्ति तथा स्वर्ग श्री का कारण नहीं है।

जिनज्ञावर्तनं कीर्ति मैत्री मानापनोदनम्।

गुणानुरागिता संघसम्मदाधाश्च तद्गुणाः।। (84)

विनय से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है, जगत में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है, सर्वजनों में मैत्री भाव प्रगट होता है, मान कषाय का नाश होता है तथा चतुर्विध संघ विनयशील मानव पर सन्तुष्ट होते हैं इत्यादि अनेक विनय के गुण हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्ट सम्पदाम्।

रत्नत्रयीविभूषायां येन मुक्ति निबन्धनं।। (85)

विशेष कहने से क्या प्रयोजन है। विनय सर्व इष्ट सम्पदाओं का स्थान है, रत्नत्रय का भूषण है और मुक्ति का कारण हैं।

विनयफल-सर्वकल्याण

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्याणं।। (भा.आ. 130)

विनय से रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल होती है। शिक्षा का फल विनय है

विनय का फल सब का कल्याण है।

विनय रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल है क्योंकि पूर्व में कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षा का फल है और उस विनय का फल सर्व कल्याण है। सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनय से मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है।

विणओ मोक्खद्वारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य।। (131)

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य और सर्व संघ अपने वश में किया जाता है।

जैसे द्वार इष्ट देश की प्राप्ति का उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मों के विनाश रूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय विनय है इसलिए मोक्ष का द्वार कहा है। पूर्व में कहीं पाँच प्रकार की विनय के होने पर कर्मों से छुटकारा होता है। विनय से ही संयम होता है क्योंकि जो पाँच प्रकार की विनयों में सदा लगा रहता है वहीं असंयम को त्यागने में समर्थ होता है, जो विनयों में प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयम को ही नहीं छोड़ सकता। यदि इन्द्रियों और कषायों की ओर से विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है तथा ज्ञानादिकी विनय से शून्य अनशन आदि कर्म को नष्ट कर सकते हैं। इसलिए तप में तपपना का कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनय से तप होता है' कहा है तथा ज्ञान का कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और विनय से आचार्य तथा समस्त संघ अपने वश में हो सकता है।

आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च।। (132)

आचार के क्रम तथा कल्प्य गुणों को प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरों को प्रसन्न करना, ये विनय के गुण हैं।

रत्नत्रय के आचरण का कथन करने में तत्पर होने से पहले अंग को आचारांग कहते हैं और आचार शास्त्र में कहे गये क्रम को 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराध के

प्रकाश 'आचारजदिकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनय के करने से आचारशास्त्र में कहे गये क्रम का प्रकाशन होता है। कल्प भी विनय को न मानने वाले साधु को दण्ड का विधान करता है अतः विनय का ही निरुपण करता है। उसके भय से साधु विनय करता है इस प्रकार कल्प के द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्हीं का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते हैं।-

'कल्प्यते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणों को कल्प्य गुण कहते हैं। आचार के क्रम का कल्प्य गुणों का प्रकाश आयारजीद कल्प गुण शब्द अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करने से श्रुत की अराधना और चारित्र की अराधना होती है तथा विनय होती है तथा विनय करना आत्मशुद्धि का अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणति का निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममल के विनाश से प्राप्त होता है अतः उसे आत्मा की शुद्धि कहते हैं। जैसे कीचड़ के दूर होने पर जलादि की शुद्धि होती है। 'णिज्झंझाका' अर्थ वैमनस्य का अभाव है। जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नहीं होता वह विनय हीन होता है। गुरु उस पर अनुग्रह नहीं करते। ऋजु मार्ग पर चलने को आर्जव कहते हैं और शास्त्र के कहे गये आचरण को ऋजु कहते हैं। मार्दव अर्थ अभिमान का त्याग है। दूसरे के गुणातिशय में श्रद्धा करने से और उनके माहात्म्य को प्रकट करने से तथा विनय करने से अभिमान का ह्रास स्वयं हो जाता है। जो विनीत साधु होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते हैं अतः विनय भक्ति का कारण है। प्रकृष्ट सुख को प्रल्हाद कहते हैं उसका करना प्रल्हादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरों को प्रसन्न करना विनय का गुण है। अपने को प्रसन्न करना भी विनय गुण है, क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं अतः वह निरन्तर दुःखी रहता है और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोक में बाधा के अभाव को ही सुख कहा जाता है।

कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो।
तित्थराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।। (133)

कीर्ति, मित्रता, मान का विनाश, गुरुजनों का बहुमान और तीर्थंकरों की आज्ञा

का पालन और गुणों की अनुमोदना ये विनय के गुण हैं।

यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है। विनयी की कीर्ति होती है। दूसरों को दुःख न होने की भावना मैत्री है। जो विनीत होता है वह दूसरों को दुःख देना नहीं चाहता और मान का भंग होता है।

शंका- पूर्व गाथा में मार्दव शब्द से मानभंग को कहा ही है। पुनः कहने से पुनरुक्त दोष आता है?

समाधान-यहाँ पर के मानभंग को कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक है। दूसरों को जैसे करता देखता है स्वयं भी वैसा करता हैं। वे सोचते हैं - निश्चय ही अभिमान का त्याग गुण है, अन्यथा वह विनय क्यों करता? विनय से गुरुओं का बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनों को बहुत सम्मान करता है तथा तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है अर्थात् विनय का उपदेश देने वाले तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन विनय करने से होता है तथा गुरुजनों की विनय करने से उनके गुणों की अनुमोदना होती है। कोई कहते हैं कि श्रद्धानादि गुणों में हर्ष प्रकट होता है। ये विनय के गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है। विनय से पैदा होने के कारण इन्हें विनय के गुण कहते हैं।

श्रमणों का अनादर करने वाला चारित्रभ्रष्ट है -

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।। (265) प्र.सा.

Seeing an ascetic adiding by the injunctions of the scripture, he who ridicules him through make and is unulilling to do these revrential cuties (unto, him), rulins him conduct.

आगे जो रत्नत्रय मार्ग में चलने वाला साधु है उस को जो दूषण लगाता है उसके दोष को दिखलाते हैं -

(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चय से (सासणत्थं) जिनमार्ग में चलते हुए (समणं) साधु को (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभाव से (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिए विनयपूर्वक क्रियाओं में (णाणुमण्णादि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चय से (णट्ठचारितो) चारित्र से भ्रष्ट

(हवदि) हो जाता है।

जो कोई साधु दूसरे साधु को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग में चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्मा की भावना से विलक्षण द्वेष व कषाय से उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्यों में अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षा से मर्यादा के उल्लंघन करने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय भाव में स्थित साधु को देखकर ईर्ष्याभाव से दोष ग्रहण करें तो वह प्रगटपने चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भाव को छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल के पीछे इस भाव को त्यागता है तो भी उसका दोष नहीं रहता है परन्तु यदि इसी ही भाव को दृढ़ करता हुआ तीव्र कषाय भाव से मर्यादा उल्लंघन कर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्रभ्रष्ट हो जाता है यहाँ यह भावार्थ है। बहुत शास्त्र ज्ञाताओं को थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओं का दोष नहीं ग्रहण करना चाहिए और न अल्पशास्त्री साधुओं को उचित है कि थोड़ा सा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओं का दोष ग्रहण करें। किन्तु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वयं शुद्ध स्वरूप की भावना करनी चाहिए क्योंकि रागद्वेष के पैदा होते हुए न बहुत शास्त्रज्ञाताओं को शास्त्र का फल होता है, न तपस्वियों को तप का फल होता है।

यहाँ शिष्य ने कहा है कि आपने अपवाद मार्ग के व्याख्यान के समय शुभोपयोग का वर्णन किया अब यहाँ फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहाँ पर सर्वत्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यान को करके फिर असमर्थ साधुओं को काल की अपेक्षा से कुछ भी ज्ञान, संयम व शौच का उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यान की मुख्यता है। यहाँ तो जैसे भेद नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्त्व रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेदनय से सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र रूप से दो प्रकार की होती है। इनमें भी और अभेद नय से एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है, सो ही भेदनय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्ररूप से तीन प्रकार मोक्षमार्ग है सो ही अभेदनय से एक श्रमणपना नाम का मोक्षमार्ग है, जिसका अभेदरूप से मुख्य कथन ''एयग्गगदो समणो'' इत्यादि चौदह गाथाओं में

पहले ही किया गया वहाँ मुख्यता से उसी का भेदरूप से शुभोपयोग के लक्षण को कहते हुए व्याख्यान किया गया, इसमें कोई पुनरुक्ति का दोष नहीं है।

समीक्षा- कुन्द कुन्द देव ने इस गाथा में स्पष्ट किया कि जो श्रमण को देखकर उसका यथायोग्य विनय नहीं करता है तो वह भ्रष्ट चारित्र है क्योंकि चारित्रधारी की अविनय से चारित्र का भी अविनय होता है और जो चारित्र का अविनय करता है वह चारित्र से भ्रष्ट होना स्वाभाविक है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी ने कहा भी है -

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान्गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।। (26)

उपर्युक्त मद से गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय धर्म में स्थित अन्य जीवों को तिरस्कृत करता है वह अपने धर्म को तिरस्कृत करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया गया है, उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय धर्म में स्थित अन्य जीवों को तिरस्कृत करता है वह अपने धर्म को तिरस्कृत करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया गया है, उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रयरूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है-अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है वह जिनेन्द्रप्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

''न धर्मो धार्मिकैर्विना'' अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं रहता है यह सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धान्त है गुण-गुणी, धर्म-धर्मी प्रदेशत्व की अपेक्षा अभिन्न होने के कारण एक के अभाव से दूसरे का भी अभाव हो जाता है। इसलिए जो गुणी की अवमानना करता है वह गुण की भी अवमानना करता है जैसे अग्नि की उष्णता को मिटाने पर अग्नि ही मिट जाती है अथवा अग्नि को मिटाने पर उष्णता भी मिट जाती है। उसी प्रकार धर्मी की अवमानना से धर्म का अपमान होता है

इसलिए तो आचार्य श्री ने कहा जो चारित्रधारी का अपमान करता है वह चारित्र भ्रष्ट है। दर्शन पाहुड़ में कुन्द-कुन्द देव ने कहा भी है -

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।

सो संजमपडिद्दीणो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। (24)

जो स्वाभाविक नग्न रूप को देखकर उसे नहीं मानता है, उल्टा ईर्ष्याभाव रखता है वह संयम प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है।

मैं शाश्वत हूँ कभी न जन्मता

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : शास्त्रीय राग, मन तड़पत...बिन गुरु)

मैं शाश्वत हूँ...कभी न जन्मता...
मैं अविनाशी...तन तो विनाशी...
जन्म-मरण...मेरा न होता...(ध्रुव)
यथा जल शीत से बर्फ बनता...उष्णता पाकर बाष्प बनता...
किन्तु अणु तो ध्रुव होता...तथाहि मैं ध्रुव ही होता...(1)
अनादि कालीन कर्म बन्ध से...संयोग हुए द्रव्य-भाव कर्म...
प्रकृति-स्थिति-अनुभाग प्रदेश...राग-द्वेष-मोह-काम हुए संश्लेष...(2)
इन से/(का) संयोग-वियोग भी होता...इससे ही जन्म-मरण होता...
तथापि मैं चैतन्य द्रव्य रूप होता...''सद् द्रव्य लक्षणमय'' मैं होता...(3)
यथा आकाश में बादल के कारण...विभिन्न रंग-आकार निर्माण....
विद्युत्-शब्द-वर्षादि होते...आकाश शाश्वत-अमूर्तिक रहता...(4)
आयुकर्म व शरीर के कारण...होता जन्म तथाहि मरण...
मैं तो चैतन्य-अमूर्तिक आत्मा...आयुकर्म-शरीर से भी भिन्न...(5)
आयुक्षय से होता है मरण...आयुकर्म उदय से होता जन्म...
मैं हूँ जीव द्रव्य निश्चय से सत्य...सत्य का कभी जन्म-मरण न होता।। (6)
टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव मैं आत्मा...उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-मुझमें होता।

स्व-स्वभाव को पाने के लिए...राग-द्वेष-मोहादि त्यागना होगा...(7)

स्व-स्वरूप मेरा सच्चिदानन्द...शुद्ध-बुद्ध-आनन्द कन्द...
स्व-स्वरूप से भिन्न सभी है पर...पर-परिणती त्याग मेरा लक्ष्य।। (8)

अतएव आत्मश्रद्धान ज्ञान से...पर-परिणती त्याग है चारित्र...
संयोग-वियोग-पर-परिणती परे...सत्य-शिव-सुन्दर 'कनक' का लक्ष्य।।(9)

सागवाड़ा 29.05.2018 रात्रि 09:25

सन्दर्भ-

वैश्विक-सार्वभौम-परम सत्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण

सद्द्रव्य लक्षणम्।।29।।

The differentia of a substance or Reality is sat, isness or being.

द्रव्य का लक्षण सत् है।

यह विश्व शाश्वतिक है। क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक है। आधुनिक विश्व में भी सिद्ध हो गया है कि शक्ति या मात्रा कभी भी नष्ट नहीं होती है, परन्तु परिवर्तन होकर अन्य रूप हो जाती है। विज्ञान में कहा भी है-

Matter and energy neither be created nor destroyed. Each can be completely changed into another form or into one another.

विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त हैं कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

दवियदि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।।19।। (पंचास्तिकाय)

What flows or maintains its identity through its several qualities and modifications and what is not different from satta or substance, that is called Dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है-प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं-जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणंपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।।(10)

Whatever has substantiality, has the dialectical triad of birth, death and permanence, and is the substratum of qualities and modes is Dravya. So say the all knowing.

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों को आश्रय-आधार है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्द देव ने कहा है -

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।। (96) (प्रवचनसार)

अनेक प्रकार के गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सर्वकाल में द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है और वह (अस्तित्व)

(1) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से,

(2) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से,

(3) विभाव धर्म से विलक्षण होने से

(4) भाव और भाववानता के भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेश-भेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त नहीं हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय एक-दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं-यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, (इसीलिये) उनका अस्तित्व एक ही है।

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरसवसहेण पण्णत्तं।। (97)

धर्म का उपदेश करने वाले जिनवर वृषभ के द्वारा इस विश्व में विविध लक्षण

वाले द्रव्यों का वास्तव में 'सत्' ऐसा सर्वगत (सबमें व्यापने वाले) एक लक्षण कहा गया है। वास्तव में इस विश्व में विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता अनेकत्व को दिखाते हुए) अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न) रहकर वर्तमान और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला और प्रत्येक द्रव्य की बँधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव में एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का परामर्श (स्पर्श ग्रहण) करने वाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है और यह (सत् ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।। (98)

द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध और स्वभाव से ही सत् है-ऐसा जिनेन्द्र देव ने यथार्थतः कहा है, इस प्रकार आगम से सिद्ध है।

वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य पर द्रव्य की अपेक्षा बिना अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुण-पर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही जो कि मूल साधन है, धारण करके स्वयंमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुवा वर्तता है। जो द्रव्यों में उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कदाचित् अर्थात् कथंचित् (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है। जैसे-द्वि-अणुक आदि तथा मनुष्य इत्यादि द्रव्य तो अनवधि (मर्यादारहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकाल-स्थायी) है, (इसीलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि गुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। (105)

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो निश्चित असत् होगा। जो असत् होगा वह

द्रव्य कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) अथवा यदि असत् न हो तो वह सत्ता से अन्य पृथक् होगा? सो भी कैसे हो सकता है? इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है। यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होगी कि वह (1) असत् होगा अथवा (2) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वयं को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जाएगा और यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ इतने द्रव्य की सत्ता रखने मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (1) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ द्रव्य उदित होता है (अर्थात् सिद्ध होता है) और (2) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है। इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि भाव और भाववान (द्रव्य) का अपृथकत्व द्वारा अन्यत्व है प्रदेश भेद न होते हुए संज्ञा-संख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है।

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।। (106)

जिसमें प्रदेशों की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो वह पृथकत्व है। ऐसे श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है। स्वरूप की एकता का न होना अन्यत्व है। ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं है तब किस तरह दोनों एक हो सकते हैं? जहाँ प्रदेशों की अपेक्षा एक-दूसरे से अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न-भिन्न हो जैसे दण्ड और दण्डी में भिन्नता है। इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते हैं। इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य की शुद्ध-सत्ता गुण के साथ नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं है। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश हैं। जैसे-शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है, परन्तु प्रदेश भेद नहीं है-ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं होते। ऐसे श्री वीर नाम के अन्तिम तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा है। जहाँ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नहीं है वहाँ अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण में है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य में प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है

वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो ऐसा मानने से क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है। तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है, किन्तु संज्ञादि रूप से एकता का अभाव है। सत्ता और द्रव्य में नानापना है। जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादिरूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिए, ऐसा अर्थ है।

परम सत्य की परिणमनशीलता

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।। (30)

Sat (is a) simultaneous possession (of) (उत्पाद) Coming into existence birth.

व्यय Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य Continuous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

द्रव्य सत् स्वरूप है। सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अन्त तक रहेगा। तथापि वह सत् अपरिवर्तन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इनका नाश नहीं होता है, इसीलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सदा सद्भाव होता है, इसीलिये ये सदा सत् स्वरूप ही रहते हैं।

उत्पाद-स्वजाति को न छोड़ते हुए भावान्तर (पर्यायान्तर) की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे-मृत्पिण्ड में घट पर्याय अर्थात् मिट्टी जैसे अपने स्वभाव को छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है। वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणमन करते हैं।

व्यय-उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय

कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन या अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह 'व्यय' है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

ध्रौव्य-ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि परिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। अर्थात् अनादि परिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है, द्रव्य ध्रुव रूप से रहता है अर्थात् स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुपना का अन्वय रहता है।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुण पज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो।।(10) (प्रवचनसार)

लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय में रहने वाला पदार्थ अस्तित्व से बना हुआ है।

उत्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो।। (18)

जैसे इस लोक में शुद्ध स्वर्ण के बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तने वाली अँगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापन आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूबन्द और अँगूठी में) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है, इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश और किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है। ऐसा जानना चाहिए।

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।। (95)

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है 'द्रव्य' ऐसा कहते हैं।

यहाँ (इस विश्व में) वास्तव में जो स्वभाव भेद किये बिना उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य त्रय से और गुण, पर्याय द्वय से लक्षित होता है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्य

रूप अन्वय है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेंगे- (1) स्वरूप अस्तित्व, (2) सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना-उत्पाद होना) है, व्यय प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य अवस्थिति (टिकना) है। गुण, विस्तार विशेष है। वे सामान्य-विशेषात्मक होने से दो प्रकार के हैं। इनमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण है। अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण है। पर्याय आयत विशेष हैं। द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुण पर्यायों के साथ लक्ष्य लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादादि रूप तथा गुण-पर्याय रूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है।)

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।। (99)

स्वभाव में अवस्थित सत् द्रव्य है, द्रव्य का गुण-पर्यायों में जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित परिणाम है वह उसका स्वभाव है।

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।। (100)

वास्तव में उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते और ध्रौव्य उत्पाद तथा व्यय के बिना नहीं होता।

अविनश्वरत्व का सिद्धान्त

नित्य का नियम

तद्भावाव्ययं नित्यम्।। (31)

Permanence means indestructibility of the essence of the quality of the substance.

उसके भावसे (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है।

जो प्रत्यभिज्ञान का कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकार के स्मरण को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसीलिये जो इसका

कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरुक्ति 'भवनं भावः, तस्य भावः तद्भावः' इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि पहले वस्तु को जिस रूप देखा है उसी रूप उसके पुनः होने से 'वही यह है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो जाये या सर्वथा नई वस्तु का उत्पाद माना जाये तो इससे स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने से स्मरण के आधीन जितना लोक-संव्यवहार चालू है वह सब विरोध को प्राप्त होता है, इसीलिये जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है, परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाये तो परिणमन का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होने से पर संसार और इसकी निवृत्ति के कारण रूप प्रक्रिया का निषेध (अभाव) प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है -

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत्।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते।। (14)

ये द्रव्य नित्य हैं, क्योंकि अपने स्वभाव से नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञान का कारण कहा जाता है।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।। (15) (पंचास्तिकाय)

सत् द्रव्य का द्रव्यरूप से विनाश नहीं है, अभाव का असत् अन्य द्रव्य का द्रव्यरूप से उत्पाद नहीं है, परन्तु भाव सत् द्रव्ये, सत् के विनाश और असत् के उत्पाद बिना ही, गुणपर्यायों में विनाश और उत्पाद करते हैं। जिस प्रकार घी की उत्पत्ति में गोरस का-सत् का-विनाश नहीं है तथा गोरस से भिन्न पदार्थान्तर का-असत् का उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरस को ही सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही पूर्व अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होने वाले स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिक परिणामी गुणों में मक्खन पर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा घी पर्याय उत्पन्न होती है, सर्वभावों का भी उसी प्रकार वैसा ही है (अर्थात् समस्त द्रव्यों का नवीन पर्याय की उत्पत्ति में सत् का विनाश नहीं है तथा असत् का उत्पाद नहीं है, किन्तु सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही पहले की

(पुरानी) अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और बाद की (नवीन) अवस्था से उत्पन्न होने वाले परिणामी गुणों में पहले की पर्याय का विनाश और बाद की पर्याय की उत्पत्ति होती है।)

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकाल अत्थपज्जाये।
वेंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो।। (581)

अवस्थान-स्थिति छहों द्रव्यों की समान है। क्योंकि त्रिकाल सम्बन्धी अर्थपर्याय का व्यंजनपर्याय के मिलने से ही उनकी स्थिति होती है।

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं।। (582)

एक द्रव्य में जितनी त्रिकाल सम्बन्धी अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय हैं उतना ही द्रव्य है। (गोम्मट्टसार जीवकाण्डम्)

विश्वगुरु सापेक्ष (अनेकान्त सिद्धान्त)

वस्तु स्वरूप की सिद्धि

अर्पितानर्पितसिद्धेः।। (32)

The contradictary characteristics are established from different points of view.

मुख्यतया और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

द्रव्य में अनन्त गुण एवं पर्याय होती हैं। उन अनन्त गुणों एवं पर्यायों का कथन एक साथ नहीं हो सकता है, परन्तु उस द्रव्य को जानना अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्य के यथार्थ ज्ञान बिना रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं हो सकती एवं रत्नत्रय के बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष के बिना शाश्वतिक सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये यहाँ पर वस्तु स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान की सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है।

धर्मान्तर को विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजन वश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उसे-अर्थरूप को अर्पित (मुख्य) कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित (गौण) है। प्रयोजक के प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की भी अविवक्षा हो जाती है। अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। वस्तु स्वरूप को जानने की जो गौण-मुख्य व्यवस्था है उसका व्यावहारिक सटीक वर्णन अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्धि ग्रन्थ में वर्णन किया है। यथा-

एकेनाकर्षती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मथाननेत्रमिव गोपी।। (225)

जिस प्रकार ग्वालिन दही को बिलोती हुई एक रस्सी को अपनी ओर खींचती है, दूसरी रस्सी को ढ़ीली करती है। यद्यपि रस्सी एक होने पर भी रई में लिपटी हुई रहने के कारण दो भागों में बँट जाती है, उसे गोपिका दोनों हाथों में पकड़कर दही बिलोती है। जिस समय वह एक हाथ से एक ओर की रस्सी को अपनी ओर खींचती है, उसी समय दूसरे हाथ की रस्सी को ढ़ीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बढ़ा देती है, इस प्रकार परस्पर एक को खींचने से दूसरी को ढीली करने से वह मक्खन (लोणी) निकाल देती है। यदि ग्वालिनी एक साथ दोनों छोर को समान बल से खींचती एवं छोड़ती तो मथनी गतिशील नहीं बनती और मक्खन भी नहीं निकलता। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिए विवक्षित विषय को मुख्य कर दिया जाता है एवं अविवक्षित विषय को गौण किया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि विवक्षित गुण, धर्म वस्तु में है एवं अविवक्षित गुण, धर्म वस्तु से पृथक् होकर लोप हो गये हो। इसको ही जैन धर्म में नयवाद या स्याद्वाद कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग के महामेधावी वैज्ञानिक आईंस्टीन ने भी इस अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे भी मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कथन सापेक्ष दृष्टि से होना चाहिए। आईंस्टीन यहाँ तक मानते हैं कि जब तक जीव असर्वज्ञ रहेगा तब तक वह सम्पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता, केवल आंशिक सत्य को जान सकता है। इस आंशिक सत्य को आंशिक सत्य मानना सम्यक् है एवं आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लेना मिथ्या है। यथा-

Einstin says, we can only know the relative truth the real truth is known only to the universal observer.

आईंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार हम जब जो जानते हैं, वह सम्पूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है, किन्तु सापेक्षित सत्य है। (Relative truth)है, सम्पूर्ण सत्य सर्वदशी सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जा सकता है।

सन्मति सूत्र में सिद्धसेन दिवाकर ने बताया कि अनेकान्त केवल वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक प्रणाली नहीं है, परन्तु लोक व्यवहार को सुचारू रूप से व्यवस्थित करने के लिए लौकिक प्रणाली भी है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।। (69)
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्,
शुद्धाज्ञानधने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।। (173) आ. अमृत.

भगवान् जिनेन्द्र ने पद-पद पर ग्रंथों में अध्यवसान ही त्याग करने योग्य है ऐसा जो कहा है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि संपूर्ण व्यवहार ही छुड़ाया है जो कि अन्य के आश्रय से होता है, निजाश्रय से नहीं होता। जबकि जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है तो ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि, सज्जन पुरुष शुद्ध ज्ञान से धनस्वरूप अर्थात् ठोस अपनी महिमा में ही धैर्य क्यों नहीं बाँधते।

भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश आचार्यों ने प्रत्येक जैन ग्रंथों में निबद्ध किया है। प्रत्येक उपदेश का तात्पर्य इतना ही है कि स्वाश्रय करो, पराश्रय छोड़ो। जितना संसार का व्यवहार है वह चाहे मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, पराश्रय से होता है। पराक्रम के त्याग का उपदेश ही परमार्थ का उपदेश है।

न जातु रागादि निमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एवं वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।। (175)

यह शुद्ध चैतन्य मूर्ति स्वरूप आत्मा स्वयं के रागादि परिणमन में निमित्त अर्थात् कारण रूप नहीं है। किन्तु आत्मा में रागादि उत्पन्न होने का निमित्त कारण पर द्रव्य का संबंध ही है, वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि वह निमित्त रूप परसंग में ही नैमित्तक भाव को प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं जैसे सूर्यकांतमणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वाला रूप परिणत स्वयं नहीं होता, किन्तु सूर्य से निमित्त को पाकर परिणमता है।

प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।

ण चयदि जाव ममत्त देहपधाणेसु विसयेसु।। (150) प्र.सा.

The soul tainted with karma, so long as it does not give up attachment towards external objects the foremost of which is the body, possesses other lifeessentials again and again.

(कम्ममलिमसो) कर्मों से मैला (आदा) आत्मा (पुणो-पुणो) बार-बार (अण्णेपाणे) अन्य-अन्य नवीन प्राणों को (धारदि) धारण रहता है। (जाव) जब तक (देहपधाणेसु विसएसु) शरीर आदि विषयों में (ममत्तं ण जहदि) ममता को नहीं छोड़ता है।

जो आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूपी मैल से रहित होने के कारण अत्यंत निर्मल है तो भी व्यवहारनय से अनादि कर्मबंध के वश से मैला हो रहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तब बार-बार इन आयु आदि प्राणों को प्रत्येक शरीर में नवीन-नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इन्द्रिय विषयों से रहित परम चैतन्यमई प्रकाश की परिणति से विपरीत देह आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति से विपरीत ममता को नहीं त्यागता है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति अंतरंग कारण देह आदि में ममत्त्व करना ही है।

समीक्षा-जिस प्रकार बीज में अंकुर होने की शक्ति होने पर योग्य जलवायु के संबंध से बीज अंकुरित होकर वृक्ष रूप में परिणमन करता है और वह वृक्ष अनेक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि को धारण करता है। उसी प्रकार जीव में संसार उत्पादक शक्ति (राग, द्वेष, मोह, ममत्व) होने पर वह शरीर, धन, भोगादि से संबंधित होकर द्रव्यकर्म को ग्रहण करता है जिससे उसे पुनः-पुनः अनेक प्राणों को धारण करना पड़ता है। इस प्राणों का मूलभूत कारण द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म का मूल कारण भावकर्म है। अतः भाव कर्म ही प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण है।

जिस प्रकार बीज को जला देने से न अंकुर उत्पन्न होता है, न वृक्ष बनता है, न पत्र-पुष्पादि आते हैं उसी प्रकार भावकर्म (ममत्वादि) को जला देने से न द्रव्यकर्म

का आस्रव होता है न शरीर उत्पन्न होता है न प्राण ही जन्म लेते हैं। अतः समस्त अनर्थ के मूल कारण भूत आसक्ति को संपूर्ण रूप से नष्ट करना चाहिए।

पौद्गलिक प्राणों के नाश के कारण

जो इदिंयादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति।। (151)

He, who has conquered his senses etc. and meditates the pure manifestation of consciousness of himself, will not be tainted by karmas, how then can the life-essentials follow him?

(जो) जो कोई (इंद्रियादि विजयी) इंद्रिय को जीतने वाला (भवीय) होकर (उवओगं) उपयोगमई (अप्पगं) आत्मा को (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहिं) कर्मों से (ण रज्जदि) लिप्त नहीं होता है अर्थात् नहीं बंधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीव को (अणुचरंति) आश्रय करेंगे?

जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मा सक उत्पन्न सुखरूपी अमृत में संतोष के बल से जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभव के बल से कषाय को जीतने से पंचन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमई अपनी ही आत्मा को ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमई आत्मा के गुणों के विघ्न करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों से नहीं बंधता है। कर्मबंधन के न होने पर ये इन्द्रियादि द्रव्य प्राण किस तरह उस जीव का आश्रय कर सकते है? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसी से जाना जाता है कि कषाय और इन्द्रियों के विषयों का जीतना ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणों के विनाश का कारण है।

समीक्षा-इन्द्रियों की प्रवृत्ति अंतरंग में कषायों की प्रवृत्ति परक होती है इसलिए इन्द्रिय-विजय पूर्वक ही होगी, इसलिए जो इन्द्रिय-विजयी है वह कषाय विजयी भी होगा। अतः इन्द्रिय विजयी (कषाय विजयी भी) होकर स्व-शुद्धात्मा का ध्यान करता है वह कर्म को नहीं बाँधता है। जब कर्म ही नहीं बाँधता है तब कर्म के कार्य स्वरूप प्राणों का संबंध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार वृक्ष को पानी, खाद, भोजन देना बंद कर देने पर वृक्ष सूख जाता

है, जिसके कारण उसमें पुष्प, फलादि नहीं आते हैं। उसी प्रकार कषाय की निवृत्ति से इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती और आत्मा का ध्यान होता है जिससे कर्मास्रव नहीं होते है कर्मास्रव के अभाव से शरीर भी नहीं मिलता है। (क्योंकि कर्माभाव से मोक्ष हो जाता है।) शरीर के अभाव से प्राणों का भी अभाव हो जाता है।

मनुष्यादि व्यवहार से जीव है

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।

अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।। (152) प्र.सा.

The Transformation of one condition into another, in the case of the soul when coming into contact with matter whose existential nature is (already) determined, is the modification with its varities of figuration etc.

(अत्थित्तणिच्छिदस्स) अपने अस्तित्व द्वारा निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थ के (हि) निश्चय से (अत्थतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर-नारक आदि विभाव पदार्थ है सो वही (संठाणादिप्पभेदेहिं) संस्थान आदि के भेदों से (पज्जयो) पर्याय है। चिन्दानन्दमयी एक लक्षण रूप स्वरूप अस्तित्व से निश्चित ज्ञानमयी परमात्मा पदार्थ रूप शुद्धात्मा से अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के संबंध से उत्पन्न हुआ जो नर-नारक आदि का स्वरूप है वह छः संस्थान व छः सहंनन आदि से रहित परमात्मा द्रव्य से विलक्षण संस्थान व संहनन आदि के द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभाव लक्षण रूप स्वभाव व्यंजन पर्याय से भिन्न विभाव व्यंजन पर्याय है।

समीक्षा-शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चैतन्य जीव को छोड़कर संसारावस्था में जो जीव की विभिन्न गति और संस्थानादि हैं वे जीव नहीं है परन्तु पुद्गल की विभिन्न अवस्था होने के कारण पौद्गलिक हैं किन्तु व्यवहार नयापेक्षा (जो व्यवहार झूठा नहीं है परन्तु कर्म सापेक्ष होने के कारण परम यथार्थ भी नहीं है) जीव हैं। कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा भी है-

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।

वादरज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।। (65) पृ.104

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।

पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।। (66)

निश्चय से कर्म और करण में अभेद भाव है, इस न्याय से जो जिससे किया जाये वह वही है। ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पात्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य तो कुछ नहीं इस प्रकार ये जीवस्थान हैं, वे बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचन्द्रिय वे सब पर्याप्त-अपर्याप्त हैं, वे सभी पुद्रलमयी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे करण रूप हैं उनसे किय गये हैं, इसलिये पुद्रल ही हैं, वे जीव नहीं है तथा नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्रलमयता आगम में प्रसिद्ध है और जो प्रत्यक्ष देखने में आने वाले शरीर आदि मूर्तिक भाव हैं वे पुद्रल कर्म प्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, सहंनन,-ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किये हुए हैं, इसलिये पुद्रल से अभेद रूप हैं इसी कारण जीवस्थान पुद्रलमय कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं है ऐसा निश्चय सिद्धांत है।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।

देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। (67)

निश्चय से यह जानना कि बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीर को सूत्र में जीव संज्ञा द्वारा कहा है। वहाँ पर की प्रसिद्धि से घृत के घड़े की तरह व्यवहार है। यह व्यवहार अप्रयोजन भूत है। उसको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कहते हैं-जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्म से लेकर घी का घड़ा देखा था, घृत से खाली भिन्न घट नहीं देखा उसको समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृत का घट हैं, वह मिट्टीमय है, घटमय नहीं है ऐसे उस पुरुष के घृत के घट की प्रसिद्धि से समझाने वाला भी घृत का घट कहता है ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणी के अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसको शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ऐसा सूत्र में कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है। इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणी के वर्णादिमान् प्रसिद्ध हैं। उस प्रसिद्धि से जीव में वर्णादिमान्

होने का व्यवहार सूत्र में किया है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कहं हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।। (68)

जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पुद्गल रूप मोहकर्म की प्रकृति के उदय होने से होते हैं, इसलिये नित्य ही अचेतन है, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्याय से वे पुद्गल ही है जीव नहीं है। यहाँ गुणस्थानों की नित्य अचेतनताओं से सिद्ध है और चैतन्य स्वभाव से व्याप्त आत्मा से भिन्न रूप से भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं प्राप्य है, इस हेतु से सिद्ध करना। चैतन्य मात्र आत्मा के अनुभव से ये बाह्य हैं इसलिये अचेतन ही हैं। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंध स्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गल कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही है, जीव नहीं हैं, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं है, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

मनुष्यादि पर्यायें कर्म जनित है

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जया जीवाणं उदयदिहिं णामकम्मस्स।। (153) प्र.सा.

Human, hellish, sub-human and divine modifications of the soul are mutually different with regard to the figuration (of the body) etc. becuase of the operation of Nama-karma.

(णामकम्मस्स उदयादिहिं) नामकर्म के उदय से (निश्चय से) (जीवाणां) संसारी जीवों की (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तिर्यंच और देव (पज्जाया) पर्यायें (संठाणादीहि) संस्थान आदि के द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्याय से भिन्न अन्य-अन्य रूप (जादा) उत्पन्न होती है। निर्दोष परमात्मा शब्द से कहने योग्य, नाम गोत्रादि से रहित शुद्ध आत्म द्रव्य से भिन्न नामकर्म के बंध, उदय, उदीरणा आदि के वश से जीवों की नर, नारक, तिर्यंच तथा देवरूप अवस्थाएँ अर्थात् विभाव व्यंजन

पर्यायें अपने भिन्न-भिन्न आकारों से भिन्न-भिन्न उपजती हैं। मनुष्य भव में जो समचतुरस्रसंस्थान व औदारिक शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भव से उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हर एक नए-नए भव में कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध-शुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे-अग्नि, तृण, काष्ठ, पत्र आदि के आकार से भिन्न-भिन्न आकार वाली हो जाती है तो भी अग्निपने के स्वभाव को अग्नि नहीं छोड़ देती है। क्योंकि ये नर-नारकादि पर्यायें कर्मों के उदय से होती हैं इससे ये शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है।

समीक्षा-ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से नामकर्म एक अघाति कर्म है। कुम्हार जिस प्रकार मिट्टी से विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन बनाता है उसी प्रकार यह नामकर्म भी जीव के विभिन्न प्रकार के शरीर बनाता है। गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में नामकर्म का कार्य कहते हुए कहा है-

गदिआदि जीव भेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च।
गदियंतर परिणमनं करेदि णामं अणेयविहं।। (12)

नामकर्म, गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल के भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है।

जीव में जिनका फल हो सो जीवविपाकी, पुद्गल में जिनका फल हो सो पुद्गल-विपाकी, क्षेत्र विग्रह गति में जिनका फल हो सो विपाकी तथा ''च'' शब्द से भवविपाकी। यद्यपि भावविपाकी आयुकर्म को ही कहा जा सकता है। इस तरह ''नामकर्म'' जीवविपाकी आदि चार तरह की प्रवृतियों रूप परिणमन करता है।

आधुनिक विज्ञान में भी मानते हैं कि शरीर निर्माण के लिए विभिन्न प्रकार के कोश, जिन्स, D.N.A एवम् R.N.A. धातु-उपधातु, विटामिन्स आदि चाहिए। अर्थात् उपर्युक्त भौतिक वस्तुओं से शरीर का निर्माण होता है। यह सिद्धान्त जैन धर्म अनादि काल से सिद्ध है और लिखित रूप में 2000 वर्ष पहले इसका वर्णन जैन शास्त्रों में पाया जाता है। अभी भी विज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वह सिद्धान्त भी बहुत ही स्थूल सिद्धांत है। अभी भी विज्ञान को ज्ञात नहीं हो पाया कि D.N.A एवम्

R.N.A. के मूलभूत सूक्ष्म कारण क्या है? वे विभिन्न कार्य करते हैं क्यों करते हैं और किस लिए करते है? परन्तु जैन धर्म में इसका सूक्ष्म वैज्ञानिक वर्णन है कि जीव जिस प्रकार का भाव करता है उस भाव के अनुसार अनंतानंत कर्म परमाणु संश्लेष संबंध को प्राप्त होकर समय आने पर उस प्रकार कार्य करते हैं जैसे-कोई मिथ्यात्व, मायाचारी एवं क्रोध से युक्त होता है तब वह ऐसे परमाणुओं को संचय करता है जो आगे जाकर उस जीव को सर्प, शेरादि क्रूर पशु बना देते हैं। उसका शरीर भी उस प्रकार वीभत्स हिंसक, हिंस्त्र अंगोपांग से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य-अन्य जीव एवं शरीर के विषय में समझ लेना चाहिए। डार्विन आदि जीव विज्ञानी तथा कुछ मनोविज्ञानी भी मानते हैं कि जीव परिस्थिति और भाव के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार शेर, चीता आदि पशु अन्य पशु का शिकार करके चीर-फाड़ करता है। जिस प्रकार शेर, चीता आदि पशु का शिकार करके चीर-फाड़ करके खाते हैं। इसलिये उनके नाखून-दाँत, जीभादि शरीर के आंगोपांग तीक्ष्ण, कर्कश होते हैं। जो जिन अंगों से कार्य लेते हैं वे अंग अधिक सबल एवं विकसित होते हैं और जिन अंगों से काम नहीं लेते हैं वे अंग दुर्बल एवं अविकसित हो जाते हैं। शरीर के कोशादि भी उस रूप परिणमन करते हैं। यह परिणमन वंशानुगत भी होता है ऐसा वैज्ञानिक लोग मानते हैं। इसलिये यह परिणमन संतान अनुक्रम से आगे बढ़ता जाता है। इसे वैज्ञानिक लोग वंशानुगत गुणसूत्र कहते हैं। हमारे जैनाचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि एक जीव जिस भाव से कर्म संचय करता है कि वह कर्म उस जीव को आगे अनेक भाव में भी प्रभावित करता रहता है। कुंदकुंद देव ने उपर्युक्त सिद्धांत का वर्णन पंचास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है-

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा।। (119)

यहाँ, गति नामकर्म और आयुकर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं इसलिये देवत्वादि अनात्म स्वभावभूत है ऐसा दर्शाया है।

जीवों के जिसका फल प्रारंभ हो जाता है, ऐसा अमुक गति नामकर्म और अमुक आयुकर्म क्रमशः क्षय को प्राप्त होता है। ऐसा होने पर भी उन्हें कषाय अनुंरजित योग प्रवृत्ति रूप लेश्या अन्य गति और अन्य आयुष का बीज होती है।

(अर्थात् लेश्या अन्य गति नामकर्म और अन्य आयुकर्म के बंध का कारण होती है इसलिये उसके योग्य (उसके अनुसार) ही अन्य गति तथा अन्य आयुष वे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्षीण-अक्षीणपने को प्राप्त होने पर भी पुनः पुनः नवीन उत्पन्न होने वाली गति नामकर्म और आयुकर्म (प्रवाह रूप से) यद्यपि वे अनात्म स्वभावभूत है तथापि-चिरकाल (जीवों के) साथ-साथ रहते हैं इसलिये आत्मा को न चेतने वाले जीव संसरण करते हैं (अर्थात् आत्मा का अनुभव न करने वाले जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं) और कुछ उदाहरण देकर उपर्युक्त बात स्पष्ट कर रहे हैं जैसे- मिर्च का बीज बोने पर जो मिर्च के समान रहता है। जिस मिर्च के बीज से वृक्ष बना क्योंकि उस मिर्च के बीज में कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्व रहते हैं और इस मिर्च में जो जीव आकर जन्म लेता है वह ऐसे कर्म लेकर आता है जिस कर्म के उदय से उस मिर्च का स्वाद चरपरा हो जाता है। नामकर्म के सामान्यतः 93 भेद होते हैं। उनमें से एक रस नामकर्म भी है। उस रस नामकर्म के मुख्य 5 भेद हैं। (1) तिक्ति रस (तीखा, चरपरा), (2) कटुकरस (कडुवा), (3) कषायला (कषेला), (4) अम्लरस (खट्टा), (5) मधुर रस (मीठा)। जो जीव पूर्व में तिक्त रस (तीखा, चरपरा) नामकर्म को संचय करके मर करके विग्रह गति में आकर मिर्च बीज रूप योनि में जन्म लेते हैं और मिर्च बनते हैं उस मिर्च के फल में चरपरा रस होता है। इसी प्रकार गन्ना का मीठा रस, इमली का खट्टा रस, नीम का कडुआ रस, आँवले का कषायला रस आदि के बारे में जान लेना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के स्पर्श गुण, वर्णयुग, आकारादि के बारे में भी जान लेना चाहिए। इसलिये जीव को जो शरीर अंगोपांगादि मिलते हैं, बनते है उसका कर्त्ता (ब्रह्मा) स्वयं ही है। अन्य कोई नहीं हैं। परमात्म प्रकाश में कहा भी है-

जो जिउ हेउ लहेकव विहि जगु बहु-बिहउ जणेइ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ।। (40)

जो आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणों को पाकर अनेक प्रकार के जगत् को पैदा करता है अर्थात् कर्म के निमित्त से त्रस स्थावर रूप अनेक जन्म धारता है स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन तीन चिह्नों कर सहित हुआ जगत् में भटकता है इसलिए जगत् कर्त्ता कहा है और शुद्धपने रूप परिणत हुआ विभाव (विकार)

परिणामों को करता है, इसलिये हर्त्ता नहीं हैं।

पूर्व में जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है, तो भी अनादि से संसार में ज्ञानावरणादि कर्म बंध कर ढ़का हुआ वीतराग, निर्विकल्प सहजानन्द, अद्वितीय सुख के स्वाद को न पाने से व्यवहारनय से त्रस और स्थावर रूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगतकर्त्ता कहा जाता है अन्य कोई भी दूसरों कर कल्पित परमात्मा नहीं है। यह आत्मा ही परमात्मा को प्राप्ति के शत्रु तीन वेदों (स्त्रीलिंगादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालों को निर्विकल्प समाधि से जिस समय नाश करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्ष-सुख का कारण होने से उपादेय हो जाता है।

कम्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि।। (48) (पृ. 47)

ज्ञानावरणादि कर्म हमेशा अपने-अपने सुख-दुःखादि कार्य को प्रगट करते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जिस आत्मा का कुछ भी अर्थात् अनंतज्ञानादि स्वरूप न तो नया पैदा किया और न विनाश किया और न दूसरी तरह का किया उस परमात्मा को तू चिंतवन कर।

यद्यपि व्यवहारनय से शुद्धात्म स्वरूप के रोकने वाले ज्ञानावरणादि कर्म अपने-अपने कार्य को करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञान को ढ़कता है, दर्शनावरण कर्म दर्शन को, आच्छादन करता है, वेदनीय साता-असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रिय सुख को घातता है, मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकता है, आयुकर्म स्थिति के प्रमाण शरीर में रखता है, अविनाशी भाव को प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादि को उपजाता है, गोत्रकर्म ऊँच-नीच गोत्र में डाल देता है और अंतरायकर्म अनंतवीर्य (बल) को प्रगट नहीं होने देता इस प्रकार ये कार्य को करते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर आत्मा का अनंतज्ञानादि स्वरूप का इन कर्मों ने न तो नाश किया और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। ऐसे अखण्ड परमात्मा का तू वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर ध्यान कर। यहाँ पर यह तात्पर्य है, कि जो जीव पदार्थ कर्मों से न हारा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है। गीता में भी कहा है-

देहिगोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। (13)

देह धारी को जैसे इस शरीर में कौमार्य, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता।

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावर जंगमम्।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञय संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।। (26)

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह, हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई जान।

मोही न होने का कारण

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।

जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदिसो अण्णदवियम्हि।। (154)

The nature of the substance established in its existential condition is said to be three-flod (viz, consisting of origination, permanence and destruction), he who knows it in detail, will not be inftuated with foreign substances.

(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभाव में तन्मय (तिहा समक्खादं) व तीन प्रकार कहे हुए (दव्वसहावं) द्रव्य के स्वभाव को (सवियण) भेद सहित (जाणदि) जानता है (सो) वह (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्य में (ण मुहदि) मोहित नहीं होता है।

जो कोई परमात्म द्रव्य के स्वभाव को ऐसा जानता है कि यह अपने स्वरूप सत्ता में तन्मय रहता है तथा इसका स्वभाव तीन प्रकार कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान आदि गुण है, सिद्धत्व आदि विशुद्ध पर्यायें हैं तथा इन दोनों का आधार रूप परमात्म द्रव्य है तैसे आत्मा शुद्ध उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप पूर्वोक्त स्वरूप अस्तित्व के साथ तीन रूप कहा गया है तथा सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान पूर्वोक्त दर्शन गुण पर्याय द्रव्य से भेद सहित है। इनमें साकार ज्ञान व निराकार दर्शन है। वह भेदज्ञानी विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव आत्मतत्त्व को जानता हुआ देह व रागादि परद्रव्यों में मोह नहीं करता है।

जो द्रव्य को निश्चित करने वाला, स्वलक्षण भूत, स्वअस्तित्व कहा गया है वह वास्तव में द्रव्य का स्वभाव ही है क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से निष्पन्न (अस्तित्व बना हुआ) है। द्रव्य गुण-पर्याय रूप से तथा ध्रौव्य उत्पाद व्यय रूप से त्रयात्मक भेद भूमिका में आरूढ़ द्रव्य स्वभाव ज्ञात होता हुआ, परद्रव्य में मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है इसलिए स्वरूप अस्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिए पद पद पर अवधारित करना (लक्ष्य में लेना) चाहिए वह इस प्रकार है -

(1) चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य (2) चेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण और (चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय-यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व) तथा (1) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करने वाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (2-3) चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेक से जो उत्पाद और व्यय यह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तव में यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गल से ये भिन्न रहा) और (1) अचेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य, (2) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण और (3) अचेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा (1) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करने वाले अचेतनत्व रूप से जो ध्रौव्य और (2-3) अचेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेक रूप से जो उत्पाद और व्यय यह त्रयात्मक स्वरूप अस्तित्व जिस पुद्गल का स्वभाव है। वह वास्तव में (मुझसे) अन्य है। (इसलिये) मुझे मोह नहीं है, स्व-पर का विभाग है।

समीक्षा-जो भेदज्ञानी स्व-शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को तथा पर-द्रव्य गुण व पर्याय को जानता है वह पर-द्रव्यों में मोह नहीं करता है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से भेदज्ञानी निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की भावना से युक्त जीव है। ऐसा भेदविज्ञानी रागादि पर-द्रव्यों से मोह नहीं करता है। समयसार में कहा भी है-

णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वा।। (39)

यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी

समय छोड़ देता है अतः वास्तव में ज्ञान ही प्रत्यख्यान है।

''(णाण सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं)'' ''(जानाति इति ज्ञानं)'' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है अतः स्वसंवेदन ज्ञानी ही आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है तब उन्हें छोड़ देता है, उनसे दूर हो जाता है। (तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वा) इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिए, जानना चाहिए और अनुभव करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि परम समाधि काल में स्वसंवेदन-ज्ञान के बल से आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है, वह अनुभव ही निश्चय-प्रत्यख्यान है।

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुंचदे णाणी।। (40)

जैसे कोई पुरुष यह जानकर कि यह परद्रव्य है, उसे वह छोड़ देता है। उसी प्रकार जो आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हें छोड़ ही देता है, वह ज्ञानी कहलाता है।

(जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि) जैसे कोई भी पुरुष जब वस्त्र-आभरण आदि वस्तु को यह पर द्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूप से जान लेता है तब उसे छोड़ देता है। ''(तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी)'' उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सब ही परभावों को अर्थात् पर्यायों को अपने स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जानकर उन्हें विशेष रूप से अर्थात् मन-वचन-काय रूप त्रिशुद्धि द्वारा दोड़ देता है, तब ही वह स्वसंवेदन ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं। भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रम से दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे ले आया और पहनकर सो गया। पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकड़कर खींचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्र के विशेष चिह्न देखकर जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा ''यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं है, तू एक (शूद्धात्मा) ही है, ऐसा समझाया जाने पर, उनको पर जान छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है। वह ज्ञानी है।''

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं।
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं।।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं।
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति।। (43) (अमृतकलश पृ. 57)

मैं हूँ चैतन्य

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. मन तड़पत (शास्त्रीय चाल) 2. बिन गुरु ज्ञान नहीं है)

मैं चैतन्य हूँ...जड़ न बनता....
भले निगोदिया हो...या सिद्ध-दशा...
सभी में चैतन्यमय मैं/(ही) रहता (ध्रुव)
चतुर्गति या चौरासी लक्ष्य योनि...मार्गणा गुणस्थान आदि अवस्था...
कर्म सम्बन्ध जनित विभाव-दशा...इसमें भी मैं चैतन्यमय रहता...(1)

सिद्ध-अवस्था में शुद्ध-चेतना...अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य...
निगोदिया में निम्नतम चेतना...मध्य में तारतम्य में होती चेतना...(2)

उपयोगमय मेरा स्वभाव...स्वभाव का कभी न होता विभाव...
जीव द्रव्य सभी होते चैतन्यमय...शेष पाँचों द्रव्य अचेतनमय...(3)

यथा आकाश में होते मूर्तिक द्रव्य....तथापि आकाश न होता मूर्तिक....
अनादिकालीन कर्मसंयोग से भी...मैं न बनता अचेतनद्रव्य...(4)

अचेतन द्रव्य से न बने चेतन द्रव्य...चेतन से न बने अचेतन द्रव्य...
भले मिले रहते हो अनादि काल से...स्वभाव का अभाव न होता संभव...(5)

राग-द्वेष-मोह से चेतन हुआ मन्द...राग-द्वेष-मोह क्षय से बनूँ आनन्द...
इस हेतु ही ध्यान-अध्ययन-तप...आत्म-श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र युक्त...(6)

चेतन को शुद्ध व समृद्ध हेतु...जो होता काम वह है धर्म...
अन्यथा सभी है अधर्म-कुधर्म...'कनक' का लक्ष्य शुद्ध-बुद्ध-आनन्द। (7)

सागवाड़ा 30.05.2018 मध्याह्न 01:50

सन्दर्भ-

जीव के नौ विशेष गुण

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्डगई।।(2) द्र.सं.

Jiva is characterised by upayoga, is formless and an agent, has the same extent as its own body, is the enjoyer (of the fruits of Karma), exists in Samsara, is Siddha and has a characteristic up ward motion.

जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

छहों द्रव्यों में से जीव द्रव्य सर्वश्रेष्ठ एवं उपादेय द्रव्य होने के कारण तथा प्रथम गाथा में जीव द्रव्य का प्रथम निर्देश होने से इस दूसरी गाथा में आचार्य श्री ने जीव द्रव्य के नौ विशेष गुणों के नाम निर्देशपूर्वक नौ अधिकारों का संक्षेप में दिग्दर्शन किया है। स्वयं आचार्य श्री ने इसी ग्रंथ में नौ अधिकारों का विशेष वर्णन अग्रिम गाथासूत्र में किया है इसलिए यहाँ केवल सामान्य जानकारी के लिए नौ अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से कर रहे हैं:

1. **जीव**-जो शुद्ध निश्चय नय ये चैतन्य रूप भाव प्राण से जीता है एवं व्यवहार से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण एवं भाव प्राण से जीता है उसे जीव कहते हैं।

2. **उपयोगमय**-शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सम्पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन रूप उपयोग से रहित है एवं व्यवहार नय से क्षायोपशमिक ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है उसे उपयोगमय कहते हैं।

3. **अमूर्तिक**- संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक कर्मों से युक्त होने के कारण मूर्तिक होते हुए भी निश्चय नय से जीव कर्म निरपेक्ष है इसलिए अमूर्तिक है।

4. **कर्त्ता**-शुद्ध नय से जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है तथापि व्यवहार नय से जीव योग एवम् उपयोग से कर्मों का आस्रव एवं बंध करता है इसलिए कर्त्ता भी है।

5. **स्वदेह परिमाण**-निश्चय नय से जीव, लोकाकाश के बराबर असंख्यात

प्रदेशी होते हुए भी शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के कारण जीव संसारी अवस्था में जिस शरीर को प्राप्त करता है उस शरीर के बराबर हो जाता है।

6. **भोक्ता**-शुद्ध निश्चय नय से जीव स्व अनंत सुख को भोगता है तथापि अशुद्ध नय से कर्म परतंत्र जीव, शुभ कर्म से उत्पन्न शुभ एवं अशुभ कर्म से उत्पन्न अशुभ कर्मों को भी भोगता है।

7. **संसार में स्थित**- यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार से रहित है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूपी पंचविध संसार में रहता है।

8. **सिद्ध**-यद्यपि जीव अनादि काल से कर्म से युक्त होने के कारण असिद्ध है तथापि शुद्ध निश्चय नय से कर्म से रहित होने के कारण सिद्ध है।

9. **स्वभाव से उर्ध्वमान करने वाला**-यद्यपि कर्म परतंत्र जीव संसार में ऊंचा, नीचा, सीधा, तिरछा गमन करता है तथापि निश्चय नय से स्वभाव रूप से इसमें ऊर्ध्वगमन शक्ति है इसलिए जीव मोक्षगमन के समय ऊर्ध्वगमन ही करता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त प्रत्येक जीव होता है। कुछ दार्शनिक उनमें से कुछ गुण को तो मानते हैं और कुछ गुणों को नहीं मानते जैसे-चार्वाक आदि भौतिक जड़वादी दार्शनिक चैतन्य से युक्त शाश्वतिक जीव द्रव्य को नहीं मानते हैं। नैयायिक दर्शन में मुक्त जीव को ज्ञान, दर्शन से रहित मानते हैं, भट्ट तथा चार्वाक दर्शन जीव को मूर्तिक ही मानते हैं। सांख्य दार्शनिक आत्मा (पुरुष) को कर्त्ता नहीं मानता है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य दर्शन आत्मा को प्राप्त शरीर प्रमाण न मानकर आत्मा को हृदय कमल में स्थित बट बीज आदि के बराबर मानते हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी होने के कारण इस दर्शन की अपेक्षा जीव स्वपूर्वोपार्जित कर्म का भोक्ता है यह सिद्ध नहीं होता। सदाशिव मत वाले आत्मा को सदा सर्वदा मुक्त मानते हैं। भट्ट एवं चार्वाक दार्शनिक आत्मा को सिद्ध नहीं मानते हैं। उपर्युक्त दार्शनिक जीव को स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन वाला नहीं मानते हैं। उपर्युक्त असम्यक् मतों को निरसन करने के लिए इस गाथा में जीव के उपरोक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

जीव का स्वरूप

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदण जस्स।। (3) द्र.सं.
त्रिकाले चतुः प्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतः तु चेतना यस्य।।

According to Vyavahara Naya, That is called Jiva, which is possessed of four Pranas viz, Indriya (the senses), Bal (Force), Ayu (Life) And Ana-prana (respiration) in the three periods of time viz, the present, the past and the future and according to Nischaya Naya that which has consciousness is called Jiva.

तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और आनपान इन चारों प्राणों को जो धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चयनय से जिसके चेतना है, वह जीव है।

आचार्य श्री ने इस गाथा में व्यवहार नय से एवं निश्चय नय से जीव की परिभाषा दी है। संसारी जीव अनादिकाल से कर्म संतति की अपेक्षा कर्म से युक्त है। इसलिए कर्म परतंत्र जीव यथायोग्य कर्म के उदय से प्राप्त यथायोग्य द्रव्य प्राण एवं भाव प्राण से जीता है। इसलिए व्यवहार नय से चार द्रव्य प्राणों से और भाव प्राणों से जो जीता है, जीवेगा वा पहले जीया है उसे जीव कहते हैं, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण है और भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भाव प्राण अशुद्ध निश्चय नय से है तथा निश्चय नय से शुद्ध चैतन्य ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राण है।

प्रत्येक द्रव्य, 'पर' से उत्पन्न न होने वाला सत्तावान होने से प्रत्येक द्रव्य अनादि अनिधन अर्थात् शाश्वतिक है। विज्ञान के अनुसार भी द्रव्य एवम् ऊर्जा कभी भी नष्ट नहीं होते हैं परन्तु परिवर्तित होते रहते हैं।

भविया सिद्धि जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति।। (557) गो. सार.

जिन जीवों की अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी

प्राप्ति के योग्य हो उनको भवसिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्यसिद्ध कहते हैं।

कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं, परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बंध्या के दोष से रहित विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। जैसे बंध्यापने के दोष से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस तरह योग्यता भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। इन दोनों योग्यताओं से जो रहित है उनको अभव्य कहते हैं। जैसे बंध्या स्त्री कि निमित्त मिले चाहे न मिले, परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। जिनमें मुक्ति प्राप्ति की योग्यता हैं उनको भव्यसिद्ध कहते हैं। इस अर्थ को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं-

भव्वत्तणस्य जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणयोवलाणमिव।। (558)

जो जीव अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि की प्राप्ति के योग्य है; उनको भवसिद्ध कहते हैं किन्तु यह बात नहीं है कि इस प्रकार के जीवों का कर्ममल नियम से दूर हो ही। जैसे-कनकोपल का।

ऐसे ही बहुत से कनकोपल हैं जिनमें कि निमित्त मिलाने पर शुद्ध स्वर्णरूप होने की योग्यता तो है, परन्तु उनकी इस योग्यता की अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी। अथवा जिस तरह अहमिन्द्र देवों में नरकादि में गमन करने की शक्ति है परन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती। इस ही तरह जिन जीवों में अनंत चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भी भवसिद्ध कहते हैं। ये जीव भव्य होते हुए भी सदा संसार में ही रहते हैं।

ण य जे भव्वाभव्वा, मुक्तिसुहातीदणंतसंसार।
ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य।। (559)

जिनका पाँच परिवर्तनरूप अनंत संसार सर्वथा छूट गया है और इसलिये जो मुक्ति सुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रही है। इसलिये भव्य भी नहीं है और अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर चुके हैं इसलिये अभव्य

भी नहीं है।

जिनमें अनंत चतुष्टय के अभिव्यक्त होने की योग्यता ही नहीं हो उसको अभव्य कहते हैं। अतः मुक्त जीव अभव्य भी नहीं है; क्योंकि इन्होंने अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है और ''भवितुं योग्या भव्या'' इस निरूक्ति के अनुसार भव्य उनको कहते हैं जिनमें अनंत चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है। किन्तु अब वे उस अवस्था को प्राप्त कर चुके, इसलिये उनके भव्यत्व रूप योग्यता का परिपाक हो चुका अतएव अपरिपक्क अवस्था की अपेक्षा से भव्य भी नहीं है।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम्। (8)

The lakshna of differentia of soul is upayoga, attention, consiousness, attentiveness.

उपयोग जीव का लक्षण है।

इस सूत्र में जीव के महत्त्वपूर्ण सद्भूत लक्षण का वर्णन है। पहले अध्याय में जीव के ज्ञान गुण का वर्णन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है तो इस अध्याय में भी जीव के भावों का वर्णन असाधारण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उपयोग जीव के असाधारण भाव या लक्षण होने के कारण यह भाव अन्य अजीव पदार्थ में नहीं पाया जाता है तथा किसी भी रसायनिक प्रक्रिया से उपयोग शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। डार्विन आदि वैज्ञानिक जो रसायनिक प्रक्रिया से जीव की उत्पत्ति मानते हैं वह सिद्धांत कपोल-कल्पित, अविचारित रम्य है। इस सिद्धान्त का खण्डन मेरी (कनकनन्दी) ''विश्व विज्ञान रहस्य'' पुस्तक में किया है। जिज्ञासु वहाँ से देखकर अध्ययन करें।

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द देव ने इसका वर्णन सविस्तार से निम्न प्रकार किया है-

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।। (40)

उपयोग वास्तव में दो प्रकार का है ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। यह सर्वकाल इस जीव से एकरूप है जुदा नहीं है ऐसा जानो।

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स दु उवयोग।

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं।

द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्राचार्य ने कहा भी है-

''जीवो उवओगमओ'' ''जीवो'' शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्त-वर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरूपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभाव प्राणैर्जीवतीति जीवः।

यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनय से आदि मध्य और अंत से रहित निज और पर का प्रकाशक, उपाधि रहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण है, उससे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय से अनादि कर्म बंधन के वश से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण और भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिए जीव है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। (9)

(Attention is of) 2 kinds which is subdivided in to 8 and 4 kinds

ज्ञानोपयोग Knowledge attention:

दर्शनोपयोग Conation attention:

उपयोग Is a modification of Consiousness, which is an essential attribute of the soul. Thus attentiveness is kind of consciousness. Consciousness is a characteristic of the knower, the soul.

वह उपयोग दो प्रकार का है-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।

जो अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्त से होता है और चैतन्य को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं रहता है वह 'उपयोग' कहलाता है। वह उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

साकार और अनाकार के भेद से इन दोनों उपयोग में भेद हैं। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग। ये दोनों छद्मस्थों के क्रम से होते हैं और कर्म आवरण रहित जीवों के युगपत् होते हैं। यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होने के कारण सूत्र में ज्ञान को दर्शन से पहले रखा है।

नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में उपयोग का वर्णन निम्न प्रकार से सविस्तार से किया है-

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जोदु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव अणायारो।। (672)

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं-एक साकार (विकल्प) और दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।
चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा।। (673)

पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल और तीन प्रकार का अज्ञान-मिथ्यात्व-कुमति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं। चार प्रकार का दर्शन-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग है। यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवों का लक्षण है, क्योंकि उपयोग के इन 12 प्रकारों में से जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य रहा करता है।

साकार उपयोग में कुछ विशेषता-

मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो।। (674)

मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इनके द्वारा अपने-अपने विषय का अंतर्मुहूर्तकाल पर्यंत जो विशेष ज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं।

अनाकार उपयोग का स्वरूप-

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जे गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो।। (675)

इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अंतर्मुहूर्तकाल तक पदार्थों का जो सामान्य

रूप ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं। दर्शन के चार भेद हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से आदि के तीन दर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं। नेत्र के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं और नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधि ज्ञान के पहले इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मामात्र से जो रूपी पदार्थ विषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोग की तरह छद्मस्थ जीवों के अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक होता है।

अनाकार उपयोग या दर्शन उपयोग का वर्णन प्रकारान्तर से गोम्मट्टसार में निम्न प्रकार से पाया जाता है-

भावाणं सामण्ण विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।। (483)

निर्विकल्परूप से जीव के द्वारा जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थों की स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं।

पदार्थों में सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किन्तु इनके केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा से जो स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको 'दर्शन' कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसके चार भेद हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप-

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति।। (484)

जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रिय का विषय है उसको देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, अथवा उसके देखने वाले को 'चक्षुदर्शन' कहते हैं और चक्षु के सिवाय दूसरी चार इन्द्रियों के अथवा मन के द्वारा जो अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है उसको 'अचक्षुदर्शन' कहते हैं।

अवधिदर्शन का स्वरूप-

परमाणु आदियाइं अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।

तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पचक्खं।। (485)

अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत परमाणु से लेकर महास्कन्धपर्यंत मूर्तद्रव्य को जो सामान्य रूप से देखता है उसको 'अवधिज्ञान' कहते हैं। इस अवधि दर्शन के अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है।

केवल दर्शन का स्वरूप-

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।

लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ।। (485)

तीव्र-मंद-मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत् में परिमित क्षेत्र में रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है, ऐसे प्रकाश को 'केवल दर्शन' कहते है।

समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको 'केवलदर्शन' कहते हैं।

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च।। (10)

They are of 2 kinds :

संसारी Mundane and मुक्त Liberated Souls.

जीव दो प्रकार के है-संसारी और मुक्त।

वस्तुतः जीव द्रव्य एक प्रकार को होते हुए भी कर्म सहित एवं कर्म रहित की अपेक्षा जीव दो प्रकार के हो जाते हैं। कर्म सहित जीव संसारी हैं तथा कर्म रहित जीव मुक्त है। कहा भी है-

जीवा संसारत्था णिव्वादो चेदणप्पगा दुविहा।। (109)

उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा। (प. का. पृ. 280)

जीव दो प्रकार के है-(1) संसारी अर्थात् अशुद्ध और (2) सिद्ध अर्थात् शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतना स्वभाव वाले हैं और चेतना परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने योग्य है। उसमें संसारी जीव देह में वर्तने वाले अर्थात् देह सहित है और सिद्ध जीव देह में न वर्तने वाले अर्थात् देह रहित है।

....मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।

विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा।। (32)

मिथ्यादर्शन-कषाय योग सहित संसारी है और अनेक मिथ्यादर्शन-कषाय योग रहित सिद्ध है।

संसारी जीवों के भेद

समनस्कामनस्काः। (11)

The mudane souls are of 2 kinds:

समनस्क Rational, thouse who have a mind; i.e. the faculty of distigushing right and wrong.

मन सहित जीव को समनस्क (सैनी) कहते हैं और मन रहित जीव को अमनस्क (असैनी) कहते हैं। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीव असैन होते हैं एवम् मन सहित पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी होते हैं। इन दोनों में से संज्ञी जीव श्रेष्ठ है क्योंकि संज्ञी जीव गुण और दोषों का विचारक होता है। अमनस्क जीव मन रहित होने के कारण गुण-दोषों की समीक्षा नहीं कर पाता है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हुए भी मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान, कुज्ञान के साथ-साथ बहुत ही अविकसित ज्ञान है, इतना ही नहीं असंज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं रखता है। संज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखता है। मन दो प्रकार का है (1) द्रव्य मन, (2) भाव मन।

उनमें से द्रव्य मन पुद्‌गलविपाकी आंगोपांग नाम कर्म के उदय से होता हैं तथा वीर्यांतराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव मन कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे 'समनस्क' है और जिनके मन नहीं पाया जाता है वे 'अमनस्क' है। इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा संसारी जीव दो भागों में बँट जाता है।

द्रव्य मन का स्वरूप

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।
अङ्गोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा।। (443)

अङ्गोपाङ्गनाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदय स्थान में नियम से विकसित आठ पांखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्य मन उत्पन्न होता है।